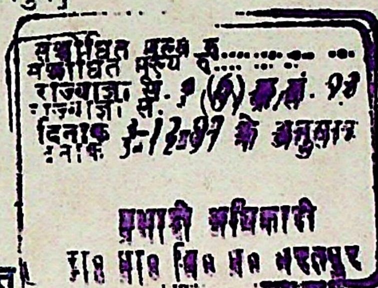
राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
डॉ. फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट्.
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]



ग्रन्थाङ्क १०९

विद्यावाचस्पति-श्रीमधुसूदनशर्मप्रणीत

पथ्यास्वस्ति

सम्पादक
सुरजनदास स्वामी, एम. ए.
साहित्याचार्य, वेदान्ताचार्य, व्याकरणाचार्य, सांख्ययोगाचार्य
अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

प्रकाशक
राजस्थान राज्य संस्थापित
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

प्रथम आवृत्ति 1969
द्वितीयावृत्ति 1996

मूल्य 67.00 रु.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्टग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

डॉ. फतहसिंह, एम.ए.,डी.लिट्.

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

सम्पादक

सुरजनदास स्वामी, एम.ए.

साहित्याचार्य, वेदान्ताचार्य, व्याकरणाचार्य, सांख्ययोगाचार्य
अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क १०९

विद्यावाचस्पति-श्रीमधुसूदनशर्म-प्रणीत

पथ्यास्वस्ति

प्रकाशक

राजस्थान-राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राज.)

प्रथमा वृत्ति 1969
द्वितीय आवृत्ति 1996

मूल्य : 67.00

निदेशकीय

वेदरहस्यवेत्ता विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा ने विलुप्त वेदविज्ञान को प्रकाश में लाने हेतु 150 से अधिक ग्रंथों का प्रणयन किया था। उन्होंने वेदों के व्याख्यापरक ग्रंथ न लिखकर तत्शास्त्रीय परिभाषाओं के परिज्ञानार्थ परिभाषा ग्रंथों का सृजन किया था। प्रस्तुत ग्रंथ उनके चार विभागों में से एक वेदांगसमीक्षा के अन्तर्गत वाक्पदिका ग्रंथ के प्रकरणभूत वर्णसमीक्षा ग्रंथ का अवान्तर प्रकरण है। इस ग्रंथ को पांच प्रपाठकों में विभाजित कर व्याकरण संबंधी विभिन्न वर्णमालाओं का प्रामाणिक निरूपण किया है—अर्थात् वैदिक भाषा में प्रचलित अनुस्वार, विसर्ग, ऊष्म, यम, स्वरभक्ति आदि। इनका इतना विशद निरूपण प्राचीन शिक्षाग्रंथों में भी नहीं मिलता। विद्वान् सम्पादक ने इस ग्रंथ की हिन्दी व्याख्या व पाद टिप्पणियाँ देकर विषय को काफी सुगम बना दिया है। प्रस्तुत ग्रंथ आज से 21 वर्ष पूर्व पुरातन ग्रंथमाला के एक पुष्प के रूप में प्रकाशित किया गया था। वर्तमान द्वितीय संस्करण विद्वज्जनों के सतत् आग्रह का ही सुपरिणाम है। आशा है कि भाषा विज्ञान के पाठकगण इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

ओ. पी. सैनी
आई. ए. एस.
निदेशक

प्रधान सम्पादकीय

स्वर्गीय पं० मधुसूदनजी ओझा की यह अमूल्य कृति प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। जोधपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष श्री सुरजनदास स्वामी के परम सौजन्य, अथक परिश्रम एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य के फलस्वरूप ही इसका अनुवाद-सहित प्रकाशन संभव हो सका है।

विद्वान् संपादक ने हिन्दी-व्याख्या के साथ-साथ बहुमूल्य पादटिप्पणियां भी दी हैं और ग्रन्थ के प्राक्कथन में कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है। अतः संपादक महोदय के हम अत्यंत आभारी हैं।

जैसा कि संपादक महोदय ने प्राक्कथन में सूचित किया है, प्रस्तुत ग्रंथ लेखक के 'वाक्पदिका' नामक ग्रन्थ के प्रकरणभूत 'वर्णसमीक्षा' का एक अवान्तर प्रकरण है। अतः यदि संपूर्ण मूल ग्रन्थ उपलब्ध होता, तो प्रस्तुत ग्रन्थ अधिक सुगम हो सकता था। फिर भी संपादक महोदय को ग्रन्थकार के शिष्य होने का गौरव प्राप्त होने से, उन्होंने विषय को जिस सुन्दरता से स्पष्ट किया है वह अन्य के लिये असम्भव था।

पुस्तक का नाम कुछ अटपटा-सा है। निःसंदेह ब्राह्मणों में (कौ० ७, ६; श० ३, २, ३, ८; ४, ५, १, ४) 'वाक्' को पथ्यास्वस्ति कहा गया है। परन्तु शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार वाक् किसी 'निदान' (३, २, ३, १५) के आधार पर यह नाम ग्रहण करती है। अन्यत्र 'पथ्या' अदिति (ऐ०१,७) और पूषा की पत्नी (गो० उ० २,६) कही गई है तथा उसका सम्बन्ध उदीची (कौ० ७, ६; श० ६, २, ३, १५) तथा प्राची दिशा (ऐ० १, ७) से बतलाया गया है। इसी पथ्या से अग्नि का भी सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि अग्नि को पथिकृत् (कौ० ४, ३) तथा पथः कर्ता (श० ११, १, ५, ६) कहा गया है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि वेद में पूषा का सम्बन्ध भी पथ से है और ब्राह्मण-ग्रन्थों में पथ्या (गो० उ० २, ६) को पूषा की पत्नी बताया गया है। ऋग्वेद में स्वस्ति शब्द शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ में परमानन्द का पर्यायवाची-सा प्रयुक्त[1] हुआ है और वहाँ 'पथ्या' शब्द के साथ भी कई बार आया है। संभवतः

---

१. देखिये लेखक कृत "भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका"

इसी संदर्भ में ऐतरेय-ब्राह्मण पथ्या-शब्द का प्रयोग अदिति के लिये करता है और आदित्य को उसका अनुसंचरण करने वाला कहता है:—

यत्पथ्यां (अदितिं) यजति तस्मादसौ (आदित्य:) पुर उदेति पश्चाऽस्तमेति; पथ्यां ह्येषोऽनुसंचरति ।

(ऐ० ब्रा० १, ७)

अत: इस दिशा में गवेषणा द्वारा अध्यात्म-तत्त्व पर पर्याप्त सामग्री मिल सकती है ।

यद्यपि इस मीमांसा से प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु इसके द्वारा वैदिक-वाङ्मय के महत्वपूर्ण स्थलों पर प्रकाश पड़ सकता है। अत: आशा है यह मीमांसा हमारी 'त्रैमासिक स्वाहा' में यथाशीघ्र प्रारंभ की जायेगी और विद्वान् संपादक के अतिरिक्त स्वर्गीय मधुसूदनजी के अन्य शिष्य भी उसमें भाग लेंगे तो उनका स्वागत किया जायेगा ।

अन्त में विद्वान संपादक को मैं हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ । हमारे संपादन-विभाग के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने इस ग्रन्थ के लिए जो श्रम किया है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ ।

फाल्गुन शुक्ला ८, सं० २०२५
जोधपुर.

—फतहसिंह

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

वेदविद्योद्धारक, वेदरहस्यप्रकाशक, समीक्षा-चक्रवर्ती, विद्यावाचस्पति, स्वर्गीय, पूज्य गुरुवर्य पं० श्री मधुसूदनजी महाराज ने वैदिक ग्रन्थों का सम्यक् परिशीलन कर सहस्राब्दियों से विलुप्त वैदिक विज्ञान को प्रकाश में लाने के लिए यावज्जीवन भागीरथ प्रयास किया। तत्तच्छास्त्रीय परिभाषाओं के ज्ञान के विना किसी भी शास्त्र के हृदय (मर्म) को हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता, इसलिए इन्होंने वेदों की व्याख्या आदि न लिख कर उनके रहस्यों का उद्घाटन करने वाली वैदिक परिभाषाओं के परिज्ञानार्थ परिभाषासम्वन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया। एतदर्थ १५० से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों को उन्होंने ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराणसमीक्षा, वेदाङ्गसमीक्षा इन चार प्रधान विभागों में विभक्त किया।

यह पुस्तक वेदाङ्गसमीक्षा-विभाग के अन्तर्गत 'वाक्पदिका' ग्रन्थ के प्रकरणभूत 'वर्णसमीक्षा' ग्रन्थ का अवान्तर प्रकरण है। इसका नाम 'पथ्यास्वस्ति' रखा गया है, क्योंकि 'वाग्वै पथ्यास्वस्तिः' इस श्रुति के अनुसार वाक् को पथ्यास्वस्ति कहते हैं और स्वरव्यंजनादि-विभाग से विभक्त वाक् वर्णरूपा है। इस ग्रन्थ में भी उन्हीं वर्णों की विभिन्न रूप से समीक्षा प्रस्तुत की गई है, अतः उन वर्णों की प्रतिपादक पुस्तक के लिए वाग्वाचक पथ्यास्वस्ति शव्द सर्वथा उपयुक्त है।

दूसरी बात यह है कि जिस मार्ग पर सूर्य परिभ्रमण करता हुआ दृष्टि-गोचर होता है, वह मार्ग सूर्य के चौतरफ संवत्सर में भ्रमण करने वाली पृथिवी का मार्ग है। उस मार्ग को भी वेद में पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। वाक् आग्नेय अर्थात् अग्निदेवताक होने से पार्थिवी कहलाती है, क्योंकि अग्नि पृथिवी का देवता है। इसीलिये श्रुति में 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' यह कहा गया है। निरुक्तकार यास्क ने भी 'अग्निर्वा भूस्थानः' इस वचन से इसी रहस्य का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी अष्टावयवा है, इस कारण पार्थिव वाक् भी अष्टावयव है। इसी आधार पर 'ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप्' तथा 'वाचमष्टापदीमहम्' इत्यादि श्रुतियों में वाक् को अष्टावयवा तथा अनुष्टुप् वतलाया गया है। क्योंकि जैसे वाक् अष्टावयवा है उसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द भी अष्टाक्षरात्मक है। जिस

प्रकार आकाशस्थ क्रान्तिवृत्त पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग है, उसी प्रकार पार्थिव होने से पृथिवीरूप इस वाक् का मार्ग वर्ण या वर्णमातृका है। इन्हीं वर्णों पर वाक् परिभ्रमण करती है। अतः जिस प्रकार पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग पथ्यास्वस्ति कहलाता है, उसी प्रकार वाक् का मार्ग वर्णमातृका भी पथ्यास्वस्ति शब्द से व्यवहृत किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित वर्णमातृका को पथ्यास्वस्ति शब्द से व्यपदिष्ट करने का यह भी रहस्य है।

इस प्राक्कथन में संक्षेप से इस पुस्तक में निरूपित विषयों का तथा इसकी उपयोगिता व महत्ता का प्रतिपादन करने का तुच्छ प्रयास किया जा रहा है।

इस पुस्तक में मातृकानुवाक, यमानुवाक, गुणानुवाक, अक्षरानुवाक तथा सन्ध्यनुवाक नामक पाँच खण्ड हैं। मातृकानुवाक नामक प्रथम प्रपाठ में अवान्तर ६ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में ९७ वर्णों की आर्षेयी वर्णमातृका का निरूपण है। इस खण्ड में आठ अयोगवाहों के अन्तर्गत स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, ह्ल ह्ल आदि औरस्य उष्मवर्ण तथा यम के स्वरूप का सुस्पष्ट तथा प्रामाणिक निरूपण है।

द्वितीय खण्ड में औपपादिक १८७ वर्णों का प्रतिपादन है, जिनमें ९७ वर्ण तो आर्षेयी वर्णमातृका वाले ही हैं, किन्तु इनसे अतिरिक्त ९० औपपादिक वर्णों का अधिक निरूपण है।

तृतीय खण्ड में ६३ या ६४ वर्णों वाले ब्राह्म वर्णसमाम्नाय का वर्णन है जिनका निर्देश-'स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः' आदि दो कारिकाओं में किया गया है। चतुर्थ खण्ड में ५१ वर्णों वाले माहेश्वर वर्णसमाम्नाय का निरूपण किया गया है।

पञ्चम खण्ड में मयासुर-विभाग द्वारा परिचालित होढाचक्रनामक ३७ वर्णों वाली आसुरी वर्णमातृका का निरूपण है।

वर्णनिर्देशादि-परिशिष्ट-विचार नामक षष्ठ खण्ड में वर्णमाला को मातृका क्यों कहा जाता है इसका निरूपण किया गया है। अर्थात् अवयवपरिच्छेद को मात्रा कहते हैं और वर्ण ध्वनि के परिच्छेद हैं, अतः इन वर्णों को 'मात्रा एव मात्रिका' इस व्युत्पत्ति से स्वार्थ में क प्रत्यय के द्वारा मात्रिका कहा जाता है। मात्रिका-शब्द ही उच्चारण की समानता से मातृका कहलाता है। अथवा यह

वर्णमाला माता की तरह भिन्न भिन्न देशभाषाओं की जननी है, इसलिये इसी साम्य से वर्णमाला को मातृका कहा जाता है।

तत्पश्चात् यह बतलाया गया है कि व्यवहार भाषा से ही निष्पन्न होता है। अतः सर्वप्रथम भाषा ही लोकव्यवहार में प्रवृत्त होती है। तदनन्तर शनैः शनैः उसमें वाक्य, पद व वर्णों के विभाग प्रचलित हुए हैं। प्रारम्भ में वर्णों की विशेषता के कारण ही भिन्न-भिन्न वर्णों की भिन्न-भिन्न संज्ञायें प्रवृत्त हुईं। जैसे रेफ अधम का वाचक है इस विशेषता के कारण 'र' की रेफ-संज्ञा हुई। तदनन्तर शनैः शनैः वर्णों के आगे कारशब्द, तथा इतिशब्द लगाकर वर्णों की संज्ञायें प्रचलित हुईं। जैसे—अकार ककार आदि 'अ' तथा 'क' की संज्ञायें हैं। इसी प्रकार अ+इति=एति, अ की संज्ञा, विति व की संज्ञा बनीं। इसी प्रकार व्यंजनों में स्वर के योग से भी वर्णसंज्ञायें बनती हैं। जैसे— क, ख, ग, घ आदि। किन्तु वर्णसंज्ञा का यह नियम सभी भाषाओं में है। जैसे इंग्लिश में एच्, एल्, एफ, वी, सी डी आदि में 'ए' तथा 'ई' स्वर जोड़कर वर्णों का बोध किया जाता है। पारसी भाषा में भी बे, पे, ते, टे, से, में यही नियम लागू होता है।

यमानुवाकनामक द्वितीय प्रपाठ में यम के विषय में चार मतों का निरूपण किया गया है। इस प्रकरण में सर्वप्रथम शुद्धजित्, सोष्मजित्, शुद्धधि, सोष्मधि भेद से चार भेद यम के बतलाये हैं और उनकी क्रमशः कुं, खुं, गुं, घुं, संज्ञाओं का निर्देश किया गया है। इसके पश्चात् यम के स्वरूप में चार प्रकार के मतों का प्रदर्शन किया गया है।

प्रथम मत के अनुसार पञ्चम वर्ण के परे होने पर पूर्व वर्ण के द्वित्व होने पर द्वितीय वर्ण अनुनासिक परवर्ण के कारण नासिक्य हो जाता है। यही यम है। इस पक्ष में यम पूर्व वर्ण के सदृश वर्णागम है। इसी मत को मण्डूक, वर्णरत्नप्रदीपिकाकार तथा औदव्रजि मानते हैं। इस मत में पञ्चम वर्णों के परे होने पर उनसे पूर्व वर्णों के प्रथमादि चार अक्षरों के वर्गभेद से २० होने के कारण यम २० हैं। किन्तु शुद्धजित् आदि भेद से वे चार ही हैं।

द्वितीय मत के अनुसार दो पदों के मध्य वर्तमान अर्धमात्राकालिक यति की तरह दो अक्षरों के बीच भी यति होती है। जैसे 'सक्तुः' इस पद में सकारोत्तरवर्ती अकार तथा ककार के मध्य यति है। इस यति में 'सऽक्तुः' ऐसा

उच्चारण होता है। किन्तु यह यति अ व क के मध्य में ही हो, यह नियम नहीं, क व रेफ के मध्य भी हो सकती है। उस समय 'सक् ऽ रतुः' ऐसा उच्चारण होता है। पूर्वोत्तरवर्ती दो व्यंजनों की तरह यह यतिरूप विच्छेद दो स्वरों के बीच भी होता है किन्तु दो स्वरों के मध्य का विच्छेद विवृति कहलाता है और दो व्यंजनों के मध्य का विच्छेद यम। इस मत में यम दो व्यंजनों के मध्य का विच्छेद है, अतएव वह अशरीर है। इसी मत को अमोघनन्दिनीकार, प्रदीपकार आदि ने माना है। इस मत में अनुनासिक वर्णों के परे होने पर उनके तथा वर्गों के प्रथमादि चार वर्णों के मध्य विच्छेदरूप यम २० हैं तथापि अनुनासिक वर्णों से पूर्व विद्यमान व्यंजन अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण भेद से चार ही प्रकार के हैं, अतः उनके तथा पञ्चम वर्णों के मध्य विद्यमान विच्छेद रूप यम भी चार ही हैं।

तृतीय मत यह है कि पदान्त की तरह पद के मध्य में भी स्थानकरण-संयोगज वर्णों की तरह वेग से स्थान व करण के विभाग से विभागज वर्ण भी उत्पन्न होता है। पदमध्यस्थ यह विभागज वर्णरूप व्यंजन ही उससे आगे वर्तमान अनुनासिक वर्ण के प्रभाव से जब नासिक्य हो जाता है तो यम कहलाता है। पलिक्क्नी आदि में यही स्थिति है। वर्गों के पञ्चम अनुनासिक वर्ण परे होने पर उससे पूर्व प्रत्येक वर्ग के चारों व्यंजन द्वित्व होकर यम होते हैं। इस प्रकार इस मत में यमों की संख्या २० है।

चतुर्थ मत के अनुसार यम २० नहीं हैं किन्तु चार ही हैं और वे कुं, खुं, गुं, घुं हैं। वर्गों के पञ्चम अनुनासिक वर्ण के परे होने पर सभी वर्गों के चारों वर्णों को द्वित्व होने पर कुं, खुं गुं घुं, ये ही यम होते हैं। जैसे 'आतनच्मि' में च को द्वित्व होने पर उसके स्थान में कुं यम होकर 'आतनच्क्मि' ऐसा ही उच्चारण होता है। इसी प्रकार संमार्ज्मि में 'ज' को द्वित्व होकर 'गुं' यम होने से 'संमार्ज्ग्मि' उच्चारण होता है।

गुणपरिष्कार-नामक तृतीय प्रपाठ में वर्णाहित गुणों का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम वाक् के स्थानभेद से वेकुरा, सुब्रह्मण्या गौरिवीता तथा आम्भृणी ये चार भेद बतलाये है। इनमें स्वयंभू-मण्डल की वाक् वेकुरा, परमेष्ठिमण्डल की सुब्रह्मण्या, सौरमण्डल की गौरिवीता तथा चन्द्रमण्डलयुक्त पृथिवीमण्डल की वाक् आम्भृणी है। ये चारों वाक् ही स्वयंभू आदि मण्डलों

में स्थित सर्वपदार्थों की जननी हैं। पृथिवीमण्डलस्थ यह आम्भृणी वाक् भूमि में सर्वत्र व्याप्त है, इसी से मनुष्य उपजीवित हैं।

प्रकारान्तर से इस वाक् के अमृता, दिव्या, वायव्या तथा ऐन्द्री ये चार भेद किये गये। हैं। इनमें ऋक्, साम, यजूरूप वेदत्रयी अमृता वाक् है। इसी से समस्त विश्व उत्पन्न होता है, इसी में प्रतिष्ठित रहता है तथा इसी में लीन होता है। यह वाक् आकाशरूप है। यह अग्नि से उत्पन्न होती हैं। अथर्ववेद पारमेष्ठदिव्य ऋतवाक् है। इसी से भूत उत्पन्न होते हैं। यह वाक् दिव्सोम से उत्पन्न होती है। यह वाक् अथर्व-वेद-रूप है। दोनों वाक् ध्वनिरहित हैं। अत एव इनका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता। ध्वनिरूप वाक् श्रोत्र से गृहीत होता है। यह ध्वनि वाक् भी अनर्थक व अव्याकृत तथा सार्थक व व्याकृत भेद से दो प्रकार की है। वर्णपदवाक्यादि-विभाग-रहित अत एव अव्याकृत वाक् वायव्या है। वह वायु से उत्पन्न होती है। वर्णपदवाक्य-विभाग-युक्त व्याकृत वाक् ऐन्द्री है, वह सार्थक है, क्योंकि उससे अर्थबोधनरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस वाक् में वर्णपदवाक्यादिविभाग इन्द्र द्वारा किये जाते हैं, अतएव इसे ऐन्द्री भी कहा जाता है।

इसी प्रकरण में उपर्युक्त चारों प्रकार की वाक् को लेकर तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी; वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य; पशुवाक्, पक्षिवाक्, सरीसृपवाक् तथा मनुष्यवाक् रूप से वाक् के चार चार भेद मानकर 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इत्यादि मन्त्र का समन्वय प्रदर्शित किया गया है। तत्पश्चात् वर्ण, अक्षर, पद वाक्य में प्रत्येक के क्रमशः चार-चार भेद बतलाये गये हैं।

इसके पश्चात् प्रक्रमस्थान, मुखस्थान, काल, करणप्रयत्न व अनुप्रदान-प्रयत्न भेद से वर्णों की व्याख्या की गई है। अर्थात् प्रक्रमस्थानादि के भेद से वर्णों का निरूपण किया गया है। इन्हीं के कारण एक ही अकार नाना-वर्णों के रूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि 'अकारो वै सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इस ऐतरेयारण्यक श्रुति से सिद्ध हो रहा है।

उपर्युक्त श्रुति में स्पर्श और उष्म शब्द स्थानों और करणों के सन्निकर्ष तथा विप्रकर्ष के बोधक हैं। स्थान और करण बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से

दो दो प्रकार के हैं। मुखस्थान से बहिर्भूत उरस्, शिरस् आदि बाह्य स्थान हैं तथा मुखाभ्यन्तर-वर्तमान कण्ठादि आभ्यन्तर हैं। बाह्य स्थानों को प्रक्रम तथा बाह्य करणों को अनुप्रदान कहते हैं और मुख के अन्दर विद्यमान कण्ठादि स्थानों को मुखस्थान व करणों को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। इन उभयविध स्थानों व करणों में प्रयत्नविशेष से स्थानों व करणों का संकोच व प्रसार होता है। और इस प्रकार प्रक्रम, अनुप्रदान, मुखस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न ये चारों गुण वर्णविशेष की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

इसी प्रकार उपर्युक्त श्रुति में स्पर्श तथा उष्म शब्द दो स्वरों के संश्लेष व विश्लेष के भी बोधक हैं। स्वरों के विश्लिष्ट उच्चारण में एक मात्रा का काल तथा संश्लिष्ट उच्चारण में द्विमात्रकाल लगता है। विश्लेष तथा संश्लेष से जन्य यह कालरूप गुण भी वर्णविशेष की उत्पत्ति में कारण है। इस प्रकार प्रक्रम, अनुप्रदान, मुखस्थान, आभ्यन्तर-प्रयत्न व काल इन पाँचों गुणों से किस प्रकार विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है, इसी रहस्य का विवेचन इस प्रकरण में आगे क्रमशः किया गया है।

अक्षरनिर्देशनामक चतुर्थ प्रपाठ में परब्रह्मविद्या तथा शब्दब्रह्मविद्या की समानता प्रतिपादित करते हुए बतलाया गया है कि जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में पर (अव्यय) अक्षर (प्राण) तथा क्षर (भूत) ये तीन तत्त्व हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में भी स्फोट, अक्षर (स्वर) तथा क्षर (व्यंजन) ये तीन तत्व हैं। जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में पृथिव्यादिभूतरूप क्षरों की सत्ता प्राणरूप अक्षर के अधीन है, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में क्षररूप व्यंजनों की सत्ता अक्षररूप स्वरों के अधीन है। जिस तरह परब्रह्मविद्या में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि व सोम ये पाँच मौलिक अक्षर हैं, उसी प्रकार वाग्ब्रह्मविद्या में भी अ, इ, उ, ऋ, लृ, ये पाँच अक्षर हैं। जिस तरह परब्रह्मविद्या में ब्रह्मादि अक्षरों से ही सारे भूतरूप क्षर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में अकारादि पाँच स्वरात्मक अक्षरों से ही सम्पूर्ण व्यंजनरूप क्षर उत्पन्न होते हैं। जैसे—परब्रह्मविद्या में क्षर अक्षर में आश्रित हैं और अक्षर अव्यय में समन्वित रहते हैं वैसे ही शब्दब्रह्मविद्या में व्यंजन स्वर में आश्रित हैं तथा स्वर स्फोट रूप आलम्बन पर आश्रित रहते हैं।

इसके पश्चात् वर्ण तथा अक्षर का पुरुषभेद, संख्याभेद, योनिभेद,

व्यापारभेद, वीर्यभेद, प्रतिष्ठाभेद, अङ्गाङ्गिभावभेद, तथा प्रतिपत्तिभेद इन आठ कारणों से भेद सिद्ध किया है।

पश्चात् द्वितीय खण्ड में वर्णों के अङ्गाङ्गिभाव का प्रतिपादन किया है। अधिदैवत में बृहती इन्द्र का छन्द है। नवाक्षर छन्द की बृहती संज्ञा है। अतः इन्द्र द्वारा व्याकृत अत एव ऐन्द्री स्वरवर्णरूप वाक् भी नव अवयवों या नव विन्दुओं वाली है। अर्थात् नौ बिन्दु या ६ अर्धमात्रायें, स्वर का व्याप्तिस्थान क्रान्तिमण्डल या महिमामण्डल है। स्वर एकमात्रिक होता है। अतः वह अर्ध-मात्रिक पञ्चम व षष्ठ इन दो बिन्दुओं पर स्थित रहता है। क्योंकि प्राण या आत्मा केन्द्र में ही स्थित होता है, अतः स्वररूप प्राण भी इन नौ विन्दुरूप अर्धमात्रिक व्यञ्जनवर्णों के मध्य में रहता है। तथापि इसका व्याप्तिस्थान या क्रान्तिस्थान ६ बिन्दु तक रहता है। अर्थात् इतने प्रदेश में वर्तमान व्यंजनों को यह स्वर आत्मसात् करने में समर्थ है। जहाँ कोई व्यंजन नहीं होता, वहाँ केवल स्वर ही अक्षर कहलाता है तथा पूर्व या उत्तर में जहाँ व्यंजन होते हैं, वहाँ व्यंजनसहित स्वर ही अक्षर कहलाता हैं। यही बात 'स्वरोऽक्षरं सहाद्यैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चाव-सितैः' इस सूत्र के द्वारा कात्यायन ने बतलाई है।

जब कोई व्यंजन दो स्वरों के व्याप्तिस्थान में आ जाता है, तब दोनों स्वरों के बल का विचार कर जिस स्वर का बल उस व्यंजन पर अधिक होता है उसी का अंग माना जाता है, दूसरे का नहीं। जैसे कुल शब्द में 'ल' पर पूर्ववर्ती उकार स्वर की तथा परवर्ती अकार स्वर की व्याप्ति है तथापि वह उत्तर स्वर का ही अंग है स्वर का नहीं क्योंकि प्रत्येक स्वर में पृष्ठतः चार पाद तथा पुरतः तीन पाद बल होता है। अतः लकार पर अकार का चार पाद बल है तथा उकार का तीन पाद बल है। अतः अकार का अधिक बल होने से वह उसी का अंग है।

तृतीय खण्ड में अक्षर में देवता का ध्यान बतलाया गया है। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इस श्रुति के अनुसार वाक् पार्थिव और अग्निदेवताक है, क्योंकि पृथिवी का अग्नि देवता है। तथापि यह वाक् इन्द्ररूप प्राण से अधिष्ठित है अतः उसके साथ एक होने से ऐन्द्री (इन्द्रदेवताक) कहलाती है। यह इन्द्र प्राण आन्तरीक्ष्य व दिव्य भेद से द्विविध है। दिव्य इन्द्रप्राण प्रज्ञाप्राण है। वहीं इस ध्वनिरूप वाक् में स्वर-व्यंजनरूप विभाग करता है।

आन्तरिक्ष्य इन्द्र वायु से संयुक्त रहता है। इन्द्र-तुरीय वायु ही ऐन्द्रवायव ग्रह बन कर आग्नेयी इस ध्वनि वाक् पर अधिष्ठित रहता है। उपर्युक्त रीति से अग्नि व इन्द्र ये दो देवता इस वाक् के हैं। अग्नि अष्टावयव होती है, अतः एक स्वर तथा उसके अनुगत सात व्यंजन एक अक्षररूप वाक् हैं। इस वाक् का उक्थ (नाभि) रूप अंश स्वर पञ्चम तथा षष्ठ बिन्दु पर स्थित रहता है तथा उसका प्राणरूप इन्द्र बृहती रूप नौ बिन्दुओं को व्याप्त करता है। इसी लिए 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्' इस श्रुति में इन्द्र या आत्मरूप ब्रह्म की व्याप्ति वाक् में बतलायी गयी है। यहाँ ब्रह्म इन्द्रप्राण या आत्मा का वाचक है। इस प्रकार स्वरस्वरूप-निरूपक प्रज्ञाप्राणरूप इन्द्र भिन्न है तथा एक स्वर तथा सात व्यंजन, इस प्रकार मिला कर अर्धमात्रिक नौ बिन्दुओं पर व्याप्त रहने वाला आन्तरीक्ष्य इन्द्र प्राण भिन्न हैं। इस आन्तरीक्ष्य इन्द्र को ही 'बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुः' इत्यादि ऋङ्मन्त्र में हंस पद से व्यवहृत किया गया है। क्योंकि यही ९ बिन्दुओं पर व्याप्त इन्द्रप्राण अपने उच्चारण में दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अत एव परतन्त्र व्यंजनों को आश्रय प्रदान करता है; और अपने में उन्हें बद्ध रखता है।

वाक् अब्रूप है क्योंकि 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत, सेदं सर्वमाप्नोत् यदिदं किञ्च' यह यजुः-श्रुति वाक् को अब्रूप बतला रही है। तृतीय द्युलोक में अर्थात् परमेष्ठी लोक में इस अब्रूप वाक्-तत्त्व के साथ यह ऐन्द्रवायव-ग्रहरूप हंस रहता है। अर्थात् ऐन्द्रवायवग्रहरूप इन्द्रप्राण तथा वाक् अविनाभूत हैं। नौ बिन्दुओं को व्याप्त कर रहने वाले वाक् के अधिष्ठाता इस इन्द्र का विद्वानों ने विचारदृष्टि से साक्षात्कार किया।

इस प्रकरण में यह भी बतलाया गया है कि इन्द्रप्राण का वाक्तत्त्व में दो प्रकार से विनियोग है—सत्यरूप से तथा प्रज्ञारूप से। प्रज्ञारूप इन्द्र इस वाक्तत्त्व में वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य आदि विभाग करता है और इसकी सत्ता व्याकृत मनुष्य वाक् में ही है। अतः वहीं वर्ण, पद, वाक्यादि विभाग हैं। सत्यप्राणरूप से यह इन्द्र व्याकृत व अव्याकृत सभी प्रकार की ध्वनियों में रहता है। अर्थात् सभी प्रकार की ध्वनियों का वह इन्द्र सत्यरूप से अधिष्ठता है। सभी प्रकार की वाक् में इसकी सत्ता मानने की आवश्यकता यह है कि वाक्तत्त्व अब्रूप होने से ऋत अत एव निरात्मक है। वह बिना आश्रय

के रह नहीं सकती है। अतः उसका आश्रय यह सत्यप्राणरूप इन्द्र है। इसी के कारण वह अपरिच्छिन्न ऋत-वाक् परिच्छिन्न होकर सत्यरूप बनती है। अन्त में इस प्रकरण के पञ्चम खण्ड में अक्षरों के गुरुभाव तथा लघुभाव के कारण का विवेचन है।

सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम खण्ड में स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, विसर्गसन्धिभेद से विभिन्न सन्धियों की मौलिक उपपत्तियाँ बतलायी गयी हैं। पाणिन्यादिनिर्मित व्याकरणशास्त्रों में सन्धियों के नियममात्र बतलाये गये हैं, किन्तु उन सन्धियों के मूल कारण का दिग्दर्शन उन शास्त्रों में लेशतः भी नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में उन सन्धियों के मूल कारण का दिग्दर्शन कराया गया है। सन्धियाँ वर्णों का परस्पर सम्बन्ध होने पर होती हैं। वर्णों का वह सम्बन्ध सर्वप्रथम विभूति तथा योगभेद से दो प्रकार का है। शब्द-ब्रह्म व अर्थब्रह्म का एक ही प्रकार है। अतः अर्थब्रह्मरूप परब्रह्म-विद्या में जिस प्रकार पदार्थों के विभूति व योग दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्म-विद्या में भी वर्णों के ये दो प्रकार के सम्बन्ध हैं। अर्थब्रह्म में व्यापक का व्याप्य में अनुग्रह विभूति कहलाता है। जिस प्रकार व्यापक ब्रह्म का व्याप्य भौतिक पदार्थों में, जल का लवण में, आकाश का वायु में, उसी प्रकार व्यापक स्वर का व्याप्य व्यञ्जनों के साथ संबन्ध विभूति सम्बन्ध है। क्योंकि स्वर का व्यञ्जनों पर अनुग्रहमात्र है, बन्धन नहीं। स्वर व्यञ्जनों को व्याप्त करता है, स्वर के विना व्यञ्जन की स्थिति ही सम्भव नहीं। इसी प्रकार व्यञ्जनों का भी व्यञ्जनों के साथ अनुग्रहात्मक विभूति-सम्बन्ध होता है। जैसे—रामाणाम्, वर्ष्मणाम् इत्यादि में रेफ व मूर्धन्य षकार का उत्तर-वर्ती नकार के साथ अनुग्रहात्मक विभूति-सम्बन्ध है। इसके कारण 'रामाणाम्' इत्यादि मे 'न' 'ण' 'में' परिवर्तित हो जाता है।

व्याप्य का व्यापक में सम्बन्ध संश्लेष कहलाता है। यह इकतरफा सम्बन्ध या बन्धयोग कहलाता है। जैसे – प्रकृति में, लवण का जल के साथ, वायु का आकाश के साथ। इसी प्रकार व्याप्य व्यंजनों का स्वर में सम्बन्ध संश्लेष है। यहाँ व्यञ्जन का स्वर में सम्बन्ध है, स्वर का व्यञ्जन में नहीं, अतः यह इक-तरफा बन्धयोग है। इसी तरह क्षररूप व्यंजनों का व्यंजन से सम्बन्ध भी संश्लेष होता है। इस संश्लेष-सम्बन्ध में एक वर्ण का दूसरे वर्ण से सम्बन्धमात्र

होता है, एक वर्ण का दूसरे वर्ण में अनुप्रवेश नहीं। इस संश्लेष-सम्बन्ध में भी वर्णों का परस्पर अनुप्रवेश न होने से सम्बन्ध होने पर भी वर्णागमादि या वर्णपरिवर्तनरूप सन्धिफल नहीं होता।

सम्परिष्वङ्गरूप तृतीय सम्बन्ध वर्णों का परस्परबन्धरूप, अत एव परस्परानुप्रवेशरूप है। दो स्वरों का जब परस्पर सम्परिष्वङ्गरूप सम्बन्ध होता है, तब कहीं तो उनमें प्रसारणरूप परिवर्तन होता है जैसे—दीर्घ, गुण व वृद्धिसन्धि में और कहीं अनुप्रवेश के कारण दबाव से स्वरों का संकोच होता है जैसे—यण्सन्धि में। दिव्यस्ति, दिक्ष्वस्ति इत्यादि उदाहरणों में आदि स्वर इकारादि का परस्वर अकारादि के साथ सम्बन्ध होने पर दबाव के कारण पूर्व एकमात्रिक इकारादि स्वर की उत्तर अर्धमात्रा नष्ट हो जाती है और इस कारण अवशिष्ट अर्धमात्रिक इकारादि तत्स्थानीय यकारादि स्पर्शों में परिवर्तित हो जाते हैं।

स्वरसन्धि में एक स्वर की द्वितीय अर्धमात्रा दूसरे स्वर की पूर्व अर्धमात्रा से मिलकर एक हो जाती है। व्यञ्जन-सन्धि में एक स्वर से निगृहीत व्यञ्जन का दूसरे स्वर से निग्रहण होता है। जैसे—तत्+आगमनम्, में द्वितीय तकार का ग्रहण सन्धि से पूर्व उसके पूर्ववर्ती स्वर से होता है, और वह उसीका अङ्ग है। किन्तु जश्त्वसन्धि के बाद 'तदागमनम्' बन जाने पर 'द्' का ग्रहण उत्तरवर्ती अकाररूप स्वर से होता है और वह उसी का अङ्ग होता है। उच्चारण के द्वारा इन दोनों भेदों को स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। यही स्थिति अन्य व्यञ्जनसन्धियों में है।

स्वरसन्धि तथा व्यंजनसन्धि दोनों में ही वर्णगुणों का अतिरेक अर्थात् परिवर्तन होता है। वर्णों के उपादानभूत अर्थात् उत्पादक वायु में वर्णस्वरूप-विशेष का उत्पादक बल वर्णगुण कहलाता है। वह बल आरम्भक तथा विशेषक भेद से दो प्रकार का है। वर्णस्वरूपोत्पत्ति में काम आने वाला बल आरम्भक कहलाता है। आरम्भक बल स्वरोपधायक, अङ्गोपधायक, स्पर्शोपधायक, स्थानोपधायक तथा नादोपधायक भेद से पाँच प्रकार का है। इन्हीं के कारण उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से भिन्न-भिन्न स्वरों की तथा भिन्नस्थानीय वर्णों की उत्पत्ति होती है। इन आरम्भक बलों से सन्धिभेद उत्पन्न नहीं होते हैं। किंतु इन्हीं आरम्भक बलों में जब

विशेषाधानहेतु विशेषक बल का विनियोग होता है, तब विभिन्न सन्धिफल उत्पन्न होते हैं। क्योंकि विशेषक बल उपजनक, उपघातक, विक्षेपक, विशेषाधायक एवं निरोधक भेद से पांच प्रकार का है। अतः वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय, वर्णादेश तथा प्रगृह्य अर्थात् स्वरूप से स्थिति ये पाँच सन्धिफल उत्पन्न होते हैं। उपजनक-रूप विशेषक बल वर्णागम का, उपघातक वर्णलोप का, विक्षेपक वर्णविपर्यय का, विशेषाधायक वर्णादेश का तथा निरोधक प्रगृह्यरूप सन्धिफल का जनक है। निम्नाङ्कित वचन में अभियुक्तों के द्वारा इन्हीं पाँच सन्धिफलों का निरूपण किया गया है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययस्तल्लोपस्तदादेश इमे विकाराः।
स्थितिः प्रकृत्येति च पञ्च सन्धेः फलानि वर्णद्वयसंनिकर्षे ॥इति॥

'झयो होऽन्यतरस्याम्' 'डः सि धुट्' 'शि तुक्', ङ्णोः कुक् टुक् शरि', 'छे च', 'दीर्घात्', 'अनचि च' इत्यादि सूत्रों से होने वाले द्वित्व वर्णागम के ही अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार 'स्वादीरेरिणोः', 'ऋते च तृतीयासमासे', प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे', 'उपसर्गादृति धातौ' इत्यादि-से होने वाली वृद्धि-सन्धियाँ भी अकाररूप वर्णागम के ही उदाहरण हैं। गर्भ, उद्ग्राभ, निग्राभ, संजभार, विश्ववाट्, मुड्, धुग्, इत्यादि भी इसी के उदाहरण हैं। गर्भादि में 'ह्' से पूर्व 'ब्' का आगम तथा विश्ववाड् व धुक् में क्रमशः ड् व ग् का आगम है।

'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य', 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यादि वर्णलोप के उदाहरण हैं। उष्णिक् आदि में उत् के त् का लोप तथा तृचम् में र तथा य का लोप भी इसी के उदाहरण हैं। 'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्'. 'प्रादूहोढोढ्यैषैष्येसु' इत्यादि से होने वाली सन्धि वर्णविपर्यय का उदाहरण है जिसका स्पष्टीकरण मूल तथा हिन्दी-व्याख्या में कर दिया गया है। 'पश्यक' शब्द से निष्पन्न 'कश्यप', 'कश्य' से निष्पन्न कच्छ, श्रथ व श्लथ शब्द से निष्पन्न शिथिर व शिथिल शब्द, अत्र शब्द से निष्पन्न 'आत्', एवशब्द से निष्पन्न वै शब्द, तु शब्द से निष्पन्न उत् शब्द भी इसी वर्णविपर्यय के उदाहरण हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, वम्, भूमा, भूयान्, निघण्टु आदि भी इसके उदाहरण हैं।

आरम्भक बल में विशेषक बल के उदय से जब लोप, आगम, विपर्यय बलों के समुच्चय के कारण वर्णगुणों में किसी का नाश, किसी का

आगम तथा किसी का विपर्यय एक साथ होता है, उसे वर्णादेश कहते हैं। जैसे—वर्णों के आरम्भक स्थानोपधायक बल में द्रुति, सम व प्लुति—ये तीन गतिरूप बल हैं। इनमें द्रुति-गति के कारण वायु का प्रथम स्थान कण्ठ में, समगति के कारण तालु, मूर्धा, दन्त इन तीन मध्यम स्थानों में से किसी एक में तथा प्लुति-गति के कारण वायु का अन्तिम स्थान ओष्ठ में पात होता है। 'शुष्क' शब्द में द्रुति-गति के कारण कण्ठस्थान में वायु का पात होने से 'त' के स्थान में 'क' का उच्चारण होता है। 'पक्व:' में प्लुति-गति के कारण वायु का ओष्ठस्थान में पात होने से 'त्' का 'व्' उच्चारण होता है। इसी प्रकार 'कृष्ट:' आदि में तकार का टकार उच्चारण होता है। इस प्रकार विभिन्न सन्धियों के कारण वर्णागमादि ही हैं।

१–इस रीति से संक्षेप में इस पुस्तक में विभिन्न कतिपय वर्णमालाओं का अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रामाणिक निरूपण किया गया है। वैदिक भाषा में प्रचलित स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, औरस्य, उष्मा, यम आदि का एकत्र इतना स्पष्ट निरूपण प्राचीन शिक्षाग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होता। भाषावैज्ञानिकों ने भी भाषाविज्ञान की पुस्तकों में केवल वैदिक भाषा में इतनी ध्वनियाँ हैं, लौकिक संस्कृति में इतनी, ऐसा सा निरूपण किया है, किन्तु इन ध्वनियों का इतना विस्तृत व स्पष्ट विवेचन लेशमात्र भी उन पुस्तकों में नहीं मिलता और न उनके उच्चारणभेद का प्रकार ही वहाँ मिलता है। जैसे विसर्ग के ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वामूल व उपध्मा ये ८ भेद भिन्न-भिन्न स्थानों में हो जाते हैं तथा सर्वत्र भिन्न-भिन्न ही इसका उच्चारण होता है। इसी प्रकार अकारादि स्वरों से परे भी विसर्ग के उच्चारण में अन्तर हो जाता है।

२–ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं शाकटं पाणिनीयकम्' इत्यादि रूप से तथा

इदमक्षरं छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तम्।
ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच। बृहस्पतिरिन्द्राय।
इन्द्रो भरद्वाजाय। भरद्वाज ऋषिभ्यः।
ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।

इस अक्षरसमाम्नाय की परम्परा में इन्द्र के नाम का उल्लेख होने से अष्ट व्याकरण-निर्माताओं में इन्द्र का नाम लिया जाता है। चान्द्रादि व्याकरण-

शास्त्रों की तरह इन्द्रनिर्मित व्याकरण-शास्त्र भी चाहे कभी कोई रहा हो, किन्तु अधिदैवत में अर्थात् प्रकृति में किस प्रकार ध्वनिरूप अव्याकृत वाक् को इन्द्र प्राण ने स्वरव्यंजनरूप से व्याकृत किया, इसकी मौलिक उपपत्ति इस पुस्तक में ग्रन्थकार ने वेदग्रन्थों के आधार पर सप्रमाण बतलाई है। जिसका निरूपण इस पुस्तक के गुणपरिष्कार-नामक तृतीय प्रपाठ में किया गया है।

३–'अथो वागेवेदं सर्वम्' 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'' इत्यादि श्रुतियाँ वाक् को ही सर्व विश्व का उपादान कारण बतला रही हैं। 'अनादिनिधनं नित्यं शब्दतत्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः' इस पद्य से वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी शब्दब्रह्मरूपी नित्यवाक् का अर्थभाव से अर्थात् जगद्रूप से परिणाम बतलाया हैं। उस विश्व का उपादानकारण कौनसी वाक् है इसका विवेचन स्वायंभुवी, पारमेष्ठ्या, सौरी तथा पार्थिवी भेद से वाक् के चार भेद बतलाकर स्वायंभुवी, ऋग्यजुःसामरूपी, अमृता वाक् को विश्व का कारण बतलाते हुए किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य पारमेष्ठ्या, सौरी तथा पार्थिवी वाक् का भी प्रतिपादन इस पुस्तक में सुस्पष्ट रूप से किया गया है। इस चार प्रकार की वाक् में हम लोग जिसके लिए वाक् का प्रयोग करते हैं, वह वाक् व्याकृता पृथिवी वाक् है। साथ ही 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इस श्रुति का भी अनेक प्रकार से श्रुतियों के आधार पर सप्रमाण समन्वय किया गया है।

४–'अकारो वै सर्ववाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इस ऐतरेयश्रुति के अनुसार एक ही अकाररूप वाक् से प्रक्रमरूप बाह्य-स्थान, अनुप्रदानरूप बाह्यकरण, मुखस्थानरूप आभ्यन्तर-स्थान, आभ्यन्तर-प्रयत्नरूप आभ्यन्तर करण एवं स्वरों के विश्लेष-संश्लेषरूप काल इन पांचों गुणों के कारण समस्त वर्णों का प्रादुर्भाव है, इसका मौलिक विवेचन इसमें हुआ है। यद्यपि आधुनिक भाषाविज्ञान के ग्रन्थों में इसका विवेचन है। किन्तु मुखबाह्य स्थानों में नाभि, कण्ठ व शिर में, नाभि से उत्थित वायु के प्रक्रम की समाप्ति मानने पर किस प्रकार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद हो जाते हैं—इसका विवेचन प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इसी पुस्तक में मिलता है, अन्यत्र नहीं।

५–द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इस श्रुति के आधार पर शब्दब्रह्म व अर्थब्रह्म की समानता है और अर्थब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म की प्रक्रिया है। जिस तरह—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

इन गीतावचनों के अनुसार प्रकृति में अर्थब्रह्म में अव्यय अक्षर व क्षर की सत्ता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म में भी स्फोट (अव्यय), स्वर (अक्षर), व्यंजन (क्षर) इन तीनों की सत्ता है।

६–स्वर के अक्षररूप होने से तथा व्यंजनों के क्षररूप होने से वे एक नहीं हैं किन्तु उनमें मौलिक भेद है। अक्षर-शब्द एकाकी स्वर के लिए भी प्रयुक्त होता है तथा व्यञ्जनविशिष्ट स्वर के लिए भी। एक स्वर की व्याप्ति नौ बिन्दुओं (अर्ध-मात्राओं) तक होती है। उनमें मध्य के दो बिन्दुओं से स्वर के स्वरूप का निर्माण होता है तथा शेष पूर्वापर सात बिन्दुओं पर उसकी व्याप्ति होती है। इत्यादि मौलिक विषयों का प्रतिपादन इसी पुस्तक में सर्वप्रथम हुआ है।

७–दो स्वरों के, दो व्यंजनों के तथा स्वर और व्यंजन के मिलने पर नाना संधियाँ होती हैं जिनका विवेचन व्याकरणशास्त्र में मिलता है, किन्तु दो वर्णों के मिलने पर ये नाना प्रकार के सन्धिविकार क्यों हो जाते हैं, इसका वैज्ञानिक व मौलिक विवेचन इसी पुस्तक के सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम प्रपाठ में हुआ है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन की इसलिए भी आवश्यकता है कि इसके बिना स्वरों और व्यंजनों के समीचीन स्वरूप का ज्ञान भाषाविज्ञान पर ग्रन्थ लिखने वालों को भी नहीं हो सकता। भाषाविज्ञान पर पुस्तक लिखने वाले एक विद्वान् ने 'पतञ्जलि,

---

१ (क) स्वयं राजन्ते स्वराः, अन्वग् भवति व्यंजनम्।
(ख) व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गं गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयम् इति, तं तं तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते। इति।
(ग) यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः।
उपरिस्थायिना तेन व्यंग्यं व्यञ्जनमुच्यते॥

'याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थों के आधार पर अपने उच्चारण में अन्य की अपेक्षा न रखने वाले 'अकारादिवर्ण' 'स्वयं राजन्ते इति स्वराः' इस व्युत्पत्ति से स्वर कहलाते हैं तथा जो वर्ण अपने उच्चारण में अपने से भिन्न अकारादि स्वरों की अपेक्षा रखते हैं, वे 'व्यज्यन्ते स्वररूपैरक्षरैः' इस व्युत्पत्ति से व्यंजन कहलाते हैं। जैसे— क, ख आदि वर्ण। इस प्रकार वे स्वर और व्यञ्जन का भेद बतलाते हुए भी लिखते हैं कि 'कहना न होगा कि भारत और यूरोप द्वारा प्रस्तुत यह परिभाषा कि 'व्यंजन वे हैं जिनका उच्चारण स्वर के बिना नहीं हो सकता और स्वर वे हैं जिनका हो सकता है', पूर्णतः गलत है। हिन्दी के तथाकथित अकारान्त शब्द यथार्थतः व्यञ्जनान्त हैं। अर्थात् उनके अन्त में व्यञ्जन अकेले बिना स्वर की सहायता से उच्चरित होता है। जैसे—राम्, राख्, आप् आदि। भाषाविज्ञान पर पुस्तक लिखने वाले उन महाशय को यह भी विदित नहीं कि एक स्वर अपने से पूर्व चार व्यंजनों तथा अपने उत्तरवर्ती तीन व्यंजनों के उच्चारण में समर्थ है। वहाँ तक उसका महिमामण्डल है। जैसे—सूर्य वृहती पर आरूढ रहता हुआ भी सम्पूर्ण सौरमण्डल का प्रकाशक है, उसी प्रकार ७ व्यंजनों का मध्यवर्ती स्वर उन सातों व्यंजनों को प्रकाशित करने अर्थात् उन व्यंजनों को अपनी सहायता से उच्चारित करने की क्षमता रखता है।

'अतः राम् इत्यादि में 'म्' का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर आकार की सहायता से होता है न कि बिना स्वर की सहायता से।

भाषावैज्ञानिक उदात्त, अनुदात्त, स्वरित को केवल सुर (Tone) जन्य मानते हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं। यह भेद नाभि से उत्थित वायु के प्रथम प्रक्रम की उरस्, कण्ठ व शिरस् में समाप्ति होने से होता है। जब नाभि से उत्थित वायु के प्रक्रम की समाप्ति उरस् में होती है तो अनुदात्त स्वर, कण्ठ में होती है तो रत और शिर में होती है, तो उदात्त होता है। इसका स्पष्ट निरूपण गुणनिरूपणरूप तृतीय प्रपाठ में विस्तार से किया गया है। अतः भाषाविज्ञान के अध्ययन करने वालों को इसका अध्ययन करना चाहिये। नहीं तो पदे-पदे भ्रांतियों की सम्भावना बनी ही रहेगी।

अतः उपर्युक्त दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्यन्त मौलिक है। उपर्युक्त अनेक मौलिकताओं से इसकी उपादेयता स्वतः-सिद्ध है। यह पुस्तक सभी विश्व-

---

१ दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः।
दुर्बलं व्यंजनं तद्वत् हरते बलवान् स्वरः।

विद्यालयों में संस्कृत एम० ए० तथा भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए संग्राह्य होनी चाहिए, ऐसी मेरी धारणा है। विद्वान् यदि ध्यान से इसका अध्ययन करेंगे, तो मेरे इस कथन की उपयुक्तता अवश्य सिद्ध होगी।

विषयों की नवीनता को ध्यान में रखकर अन्त में इसकी हिन्दी-व्याख्या भी दी गई है। इस विषय को हिन्दी में समझाकर प्रस्तुत करने का यह प्रयास तो किया गया है, किन्तु विषय की नवीनता तथा मेरी अनभिज्ञता से इसमें त्रुटियाँ अवश्य रही हैं। विद्वान् लोग उनकी तरफ ध्यान दिलायेंगे, तो मुझ पर उनका अत्यन्त अनुग्रह होगा और द्वितीय संस्करण में उनका परिमार्जन हो सकेगा।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के निदेशक, महामनीषी वेदमूर्त्ति डॉ० फतहसिंहजी ने इस ग्रन्थ को राजस्थान-पुरातन-ग्रन्थमाला से प्रकाशित करने का जो निर्णय लिया और इसके सम्पादन का दायित्व मुझे सौंप कर जो अनुग्रह किया इसके लिये मैं और वेद-जगत् उनका सर्वदा ऋणी रहेगा।

विद्वद्विधेय,

सुरजनदास स्वामी

श्री हरिः

पथ्यास्वस्तिः

वेदभाषाया वर्णमातृका प्रदर्श्यते ।

१ परब्रह्माक्षरं ज्ञातुं शब्दब्रह्माक्षरस्थितिम् ।
विज्ञापयति विज्ञानप्रवणो मधुसूदनः ॥१॥
वर्णाक्षर-समाम्नायोऽनेकधा प्रतिपद्यते ।
छन्दोभाषानुगा तत्र पथ्यास्वस्तिर्निरूप्यते ॥२॥
ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥३॥ (ऐतरेयश्रुतिः)

ओं सिद्धो वर्णसमाम्नायः ।

२ तत्र समान-प्रयत्ना भिन्नस्थाना यथा—

अ	इ	ऋ	ऌ	उ—इत्यस्पृष्टाः स्वरा. ।
ऽ	य	र	ल	व—इतीषत्स्पृष्टा अन्त.स्थाः ।
अ	य़	ड़	ऴ	व़—इतिदुःस्पृष्टाः अन्तःस्थाः ।
ग	ज	ड	द	ब—इति मृदुस्पृष्टाः स्पर्शाः ।
क	च	ट	त	प—इति तीव्रस्पृष्टाः स्पर्शाः ॥
ह	श	ष	स	ह—इत्यर्द्धस्पृष्टा उष्माणः ॥

३ अथवा समानस्थाना भिन्नप्रयत्ना यथा—

अ	ऽ	अ़	ग	क	ह—इति कण्ठ्याः ।
इ	य	य़	ज	च	श—इति तालव्याः।
ऋ	र	ड़	ड	ट	ष—इति मूर्द्धन्याः ।
ऌ	ल	ळ	द	त	स—इति दन्त्याः ।
उ	व	व़	ब	प	ह—इति ओष्ठ्याः ।

इत्थं विशुद्धास्त्रिंशत् । हकारयोः स्थानभेदेन भिन्नत्वेऽप्युच्चारण-साम्यादेकवर्ण्याभिमाने त्वेकोनत्रिंशत् ॥२९॥

४ अथ समानप्रयत्ना द्विस्थाना यथा—

अँ इँ ऋँ ऌँ उँ—इत्यस्पृष्टानुनासिकाः ।
० यँ ० लँ वँ—इतीषत्स्पृष्टानुनासिकाः ।
ङ ञ ण न म—इति स्पृष्टानुनासिकाः ।
इत्थमनुनासिकास्त्रयोदश ॥१३॥

तदित्थं प्राकृतिका निरूढा वर्णा द्वाचत्वारिंशत् ॥४२॥ एषामेव तेऽन्ये वैकारिका भवन्ति ये यौगिका ये चायोगवाहाः ।

——

५ तत्र समानप्रयत्नाः स्वरयौगिका यथा—

आ अ३ । ई इ३ । ॠ ऋ३ । ऊ उ३ ।—इति दीर्घप्लुतानि ।
ए अय् । ऐ आइ । ओ अव् । औ आउ ।—इतिसन्ध्यक्षराणि ।
इत्थं संयुक्तस्वराः शुद्धनासिक्यभेदाद् द्वात्रिंशत् ॥३२॥

६ अथ सोष्माणो व्यञ्जनयौगिका यथा—

० ० ढ़ ब्ह ०—इति दुःस्पृष्टमहाप्राणौ ।
घ झ ढ ध भ—इति घोषिमहाप्राणाः ।
ख छ ठ थ फ—इति श्वासिमहाप्राणाः ।

इत्थं स्पर्शाः सोष्माणो द्वादश ॥१२॥ तेनैते यौगिकाश्चतुश्चत्वारिंशत् ॥४४॥

——

७ अथायोगवाहाः

ॠ ॡ र्हं —इति स्वरभक्तिः ।
आ३ ई३ ऊ३ —इति रङ्गः ।
अं अः ० —इत्यनुस्वारविसर्गौ ।
ळ ळ्ह ० —इति औरस्योष्मा ।
ᳵक — ᳶप ? —इति जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ ।
कुं खुं गुं घुं —इति यमाः ।

इत्थमयोगवाहा एकादश ॥११॥

१. स्वरभक्तिः

८ ऋॡवर्णयोरन्तरतो रेफलकारौ परितः स्वरभक्त्या नियम्येते ।

ऋलोर्मध्ये भवत्यर्द्धमात्रा रेफलकारयोः ।
तस्मादस्पृष्टता न स्याद् ऋॡकारनिरूपणे—इति याज्ञवल्क्यः ॥

अस्याश्च ऋकारॡकारस्वरभक्तेश्चतुर्धोच्चारणं संप्रदायभेदादवगम्यते । अकाराभास एकेषाम् । ऋषिरिति रषिवत् । इकाराभासः प्राच्यानाम् । ऋषिरिति रिषिवत् । उकाराभास उदीच्यानाम् । ऋषिरिति रुषिवत् ! एकाराभासो माध्यन्दिनानाम् । ऋषिरिति रेषिवत् । तदुक्तं प्रतिज्ञासूत्रे—**"ऋकारस्य तु संयुक्तासयुक्तस्याविशेषेण सर्वत्रैवमिति।"** ॥ **"ऋकारो हल्वियुग् युक् च सैकारश्छन्दसि स्मृतः ।"** इति केशवी ॥ कृष्णोसि, क्रेष्णोसि । ऋत्वियः, रेत्वियः । क्लृप्तं क्लेप्तमिति । एषां मते—इकारोकाराभासः प्रतिषिद्धः ॥ अ इ उ ए—इत्येताश्चतस्रोऽर्धमात्रिकाः स्वरभक्तयो भवन्ति । तासामुच्चारणमात्रे सम्प्रदायभेदादिमे विशेषा आख्याताः । न तु लिपौ तासां विशेषाः क्रियन्ते । अर्द्धमात्रिकाणामेकमात्रिकस्वरलिपिभिरुल्लेखानवक्लृप्तेः । यत्तु ॡकारं विवक्षमाणा लकारमकारोदयमुच्चारयन्ति तदज्ञानात् । उभयोः स्वरभक्तेः समानन्यायेन प्रवर्त्तमानतया ऋकारस्य तत्रानवक्लृप्तत्वात् ॥

९ र्ह—इति रेफो लकारस्योपलक्षणं, हकारस्तूष्मवर्णानाम् । तेन रलाभ्यामुष्मप्रत्यये मध्ये यः स्वरसदृशो ध्वनिरुत्पद्यते सा स्वरभक्तिः।

रलाभ्यां पर उष्माणो यत्र तु स्युः स्वरोदयाः ।
स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥१॥
स्वरभक्तिं प्रयुञ्जानस्त्रीन् दोषान् परिवर्जयेत् ।
इकारं चाप्युकारञ्च ग्रस्तदोषं तथैव च ॥२॥

इति याज्ञवल्क्यनारदादयः ॥

पर्शुः । वर्षम् । बर्हिः । बल्शा ॥ अत्र रेफोष्मणोरन्तरतोऽर्द्धाकारवदाभासो नैसर्गिकः । माध्यन्दिनानां तु अत्यल्पमात्रैकारवदाभासः

संप्रदायसिद्धः । अथापरान्तस्थस्यायुक्तान्यहलः संयुक्तस्योष्मऋकारै-रेकारसहितोच्चारणमेवं तृतीयान्तस्थस्येति प्रतिज्ञासूत्रात् । अहल् शल्यूर्ध्वरेफस्य सैकारः प्राक्चेति नवाङ्कसूत्रम् । 'विहल्शल्यूर्ध्वरेफो यः सैकारः प्राक् समुच्चरेद्'इ ति केशवो । रेफो रेकारमाप्नोति शषहेषु परेषु च'इति माध्यन्दिनीयाः । दर्शतं दरेशतं बल्शा बलेशा । परे तु 'रलावृलृ वर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्रेति प्रातिशाख्योक्तेरल्पमात्राभ्यामृ-कारलृकाराभ्यां क्रमेण रेफलकारौ व्यवधीयेते इत्याहुः । तेन द्विरुक्त-रेफलकारवत् तत्रोच्चारणाभासः संभाव्यः । अर्शः । अरेशः । अर्हः । अरेहः ॥ वल्शा । वल्लशा—इति ।

तदित्थमकारवद्वा, ऋकारलृकारवद्वा, एकारवद्वोच्चारितार्द्धमात्रा स्वरभक्तिरित्युच्चारणसंप्रदायभेदाद् भिन्नायाः स्वरभक्तेरिदमनु-शासनत्रयं द्रष्टव्यम् । स्वरोदयत्वाभावाद् वर्ष्मशब्दे न स्वरभक्तिः ।

——

२. रङ्गः

१० देवा ँ एह, महा ँ असीत्यादौ आ ँ—इति विशुद्धादकारात् परतः पृथगिव नासिकयोच्चार्य्यमाणो वर्णो रङ्गः । तालुमृदुस्पृष्टानुनासि-कस्य नस्य तालुमृदुस्पृष्टत्वगुणभ्रंशादर्धमात्रस्थानेऽर्धमात्रिको विवृ-त्यकारीऽनुनासिकोऽवशिष्यते । व्यञ्जनस्य नकारस्य पूर्वस्वरेणानु-रञ्जनात् स्वरवदाभासो भवतीत्यस्य रङ्गशब्देन व्यपदेशः । नायम नुस्वारः । स्वरानुस्वारयोरव्यवधानोपपत्त्याऽनुस्वारेण पूर्वस्वरस्य-ग्रस्तत्वमनुभूयते । इह तु दीर्घस्वरात् पृथक् तदुच्चारणात् स्वरग्रासो नास्तीति भेदोपपत्तेः । तस्मादयमन्यो वर्णो रङ्गः । उक्तं च—

रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीत नो ग्रसेत् पूर्वमक्षरम् ।
दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥१॥

——

३. अनुस्वारः

११ अं—इत्यत्र स्वरादूर्ध्वं नासिकयोच्चार्य्यमाणो वर्णोऽनुस्वारः। तस्यानुस्वारस्य नकारवदाभासो भवति। नकारो मृदुस्पृष्टः किन्त्वयमनुस्वार ईषत्स्पृष्ट इति वर्णान्तरत्वम्। श ष स ह रेषु तु प्रत्ययेषु अनुस्वारस्योच्चारणत्रैविध्यमनुभावयन्ति। तत्र तावत् नकारसदृशध्वनिर्बह्वृचानाम्।

अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः।
अनुस्वारस्तु कर्त्तव्यो नित्य ह्लोः शषसेषु च ॥१॥

इति पाणिनिस्मरणात्। वंन्शः। कंन्सः। दन्त्यानुनासिकत्वान्नकाराभासमात्रं, न त्वयं नकार एव। अनुस्वारस्त्विवति तु शब्देन प्रत्ययान्तरवच्छषसहरेष्वपि अनुस्वारशब्देनैव व्यवहारो नतु मकारगुंकारादिवत् संज्ञान्तरमपेक्षते—इत्याह॥

१२ अथ मकारसदृशध्वनिश्छन्दोगानाम्। तस्यानुस्वारस्य मकार इति संज्ञा क्रियते व्यवहारार्थम्।

आपद्यते मकारं रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारः।
यवलेषु परसवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम् ॥१॥

इति नारदीयात्। अथवा अस्तु तावद्—

" अनुस्वारं रोष्मसु मकारः "

इतिकात्यायनप्रातिशाख्यसूत्रैकवाक्यत्वादिहापि नारदीये मकारोऽनुस्वारमित्येव निर्धारितः पाठः, अस्तु वा मकारस्थानेऽनुस्वारस्यैव विधानं तथापि तस्यानुस्वारस्य छन्दोगसंप्रदायानुरोधान्मकारसदृशध्वनिरेवास्थीयते। वंम्शः। कंम्पः॥ ओष्ठ्यानुनासिकत्वान्मकाराभासमात्रं न त्वयं मकार एव॥

१३ अथैतेष्वेव प्रदेशेष्वनुस्वारस्य—ङकारसदृशध्वनिरध्वर्यूणाम्। तंङ् रामङ् रावणारिम्। सिंङ्हः, वंङ्शः, कंङ्सः,। कण्ठ्यानुनसिकत्वान्

ङ्काराभासमात्रं न त्वयं ङ्कार एव । ङ्कारसदृशध्वनेस्तस्य गुंकार इति संज्ञा क्रियते व्यवहारार्थम् ॥ अद्यत्वे तु वेदोच्चारका गुं शब्दमेवोच्चारयन्ति, तदज्ञानात् । **"कुं खुं गुं घुं यमाः"**—इति सूत्रेण गुंकारस्यानुस्वारशब्दवत् संज्ञाशब्दतया स्वरूपपरत्वासंभवात् ॥ **"स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा"**—इत्याचार्य्याणां सिद्धान्तात् । यमप्रकरणे संज्ञाशब्दो नानुस्वारप्रकरणे इति तु न भ्रमितव्यम् । एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्राप्युपकारको भवतीति न्यायेन समानशास्त्रे संज्ञाशब्दस्य सर्वप्रकरणे साम्येन व्यवहारौचित्यात् ॥ गुंशब्दस्य द्विमात्रवर्णतया तदुच्चारणे नियताक्षरच्छन्दोव्याघातेन कर्मलोपप्रसङ्गाच्च ॥

"मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह ।
रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे ॥
दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये ।
अꣳहसः, द ꣳ ष्ट्राभ्याम्, मा हि सी : ॥"

इत्यादिष्वभीष्टच्छन्दोभङ्गदोषस्यार्थप्रतिपत्तिक्लेशदोषस्य वा गुंशब्द-मुच्चारयतां गले पतितत्वात् । प्रकृतिसिद्धोच्चारणत्रैविध्ये व्यवस्थापक-शास्त्राणामन्यतमपक्षनिर्धारकतया चारितार्थ्ये संभवति गुंस्वरूपोच्चार-णाय शास्त्रानुज्ञाने तात्पर्य्यालाभात् तथोच्चारणस्याशास्त्रीयत्वाच्च ॥ या तु—

"अनुस्वारस्य ꣳ मित्यादेशः शषसहरेफेषु"

इति प्रतिज्ञासूत्रे इतिशब्दोल्लेखाद् गुंशब्दः स्वरूपपरो न संज्ञाशब्द. इति बहूनामद्यतनानां वेदपाठिनां प्रतिपत्तिः । सेयं भ्रान्तिः । तत्रे-तिशब्दस्य "कुं खुं गुं घुं यमाः"—इत्येतदुक्तगुंकारस्मरणार्थतया अन्यार्थत्वात् । यमवचनोऽयं गुंकारो यादृशमुच्चारणं लक्षयति तथैवेहाप्यनुस्वारस्योच्चारणे जानीयादिति हि तदभिप्रायः ॥ वंशः । हवींषि । कंसः । सिंहः । तं रामम् —इत्येवमादिषु अनुस्वारस्य-

नकारमकारङकारान्यतमप्रतिकृत्योच्चारणं प्रकृत्या सिद्धे तत्रेयं वैदिकानां वेदभेदाद् व्यवस्था बोध्या ॥

---

४. विसर्गः

१४ अः—इति विसर्गः। अकार उपलक्षणं स्वरवर्णानाम्। स्वरादुत्तरो हकारवदाभासमानो हकारभिन्नो विक्षेपकध्वनिर्विसर्जनीयः॥ अग्निः। हकारवदाभासमानोऽप्ययं विसर्गो न हकारः। हकारस्यार्धस्पृष्टत्वं सस्वरभक्तिकत्वं चोपपद्यते। विसर्गस्त्वयमीषत्स्पृष्टः स्वरभक्तिशून्यः। तस्माद्वर्णान्तरम्। उक्तं च—

यथा बालस्य सर्पस्य उच्छ्वासो लघुचेतसः।
एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकारं परिवर्जयेत् ॥१॥

हकारं परिवर्जयेदित्यस्य स्वरभक्तिवैशिष्ट्यप्रतिषेधे तात्पर्य्यमुन्नेयम्। हकारभिन्नोऽप्ययं विसर्गो नूनमूष्मशब्देन व्यपदिश्यत एव। तथा चाह पाणिनिः—

ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥२॥

---

५. औरस्योष्मा

१५ ह्न ह्ल—इत्यौरस्य उष्मा। अत्र च नकार उष्मणां, रेफो यवलानामुपलक्षणम्।

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥१॥

इति ॥ पूर्वाह्णः । वह्निः । ब्रह्मा । मह्यम् । ह्रदः । ह्लादः । विह्वलः ॥

——

६. जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ

१६ ᳵ क ᳵ ख—इति कखाभ्यां प्राग् हकारसदृशध्वनिर्जिह्वामूलीयः । ᳶ प ᳶ फ—इति पफाभ्यां प्रागुपध्मानीयः ॥ क ᳵ कविः । क ᳵ खल. । क ᳶ पटु । क ᳶ फली ॥

——

७. यमाः

१७ अनासिक्यस्पर्शादुत्तरतो नासिक्यस्पर्शे सति मध्ये पूर्वसदृशो वर्णो-विच्छेदं जनयन्नुच्चार्यमाणो यम उच्यते । इमे स्पर्शाः स्थानकरण-स्पर्शजन्मानो भवन्तीति निसर्गः, किन्तु तदुत्तरे सति यमे स्पर्श-विच्छेदजन्मा पूर्वसदृशः कश्चिद्वर्णः प्रादुर्भवति स यमजनितत्वाद् यम इत्याख्यायते । इत्थं स्पर्शविच्छेदजन्यः प्रतिध्वनिर्यद्यप्यवसाने ऽन्तःस्थपञ्चमपरत्वे च संभवति — रामात्त्-शुक्क्ः, अग्ग्निरिति । तथापि पञ्चमपरत्वे नासिक्यतावैलक्षण्यादयमपूर्वः प्रतिध्वनि-र्यमोनाम वर्णान्तरत्वेनेष्यते ॥ वृक्णः । पलिक्नी । रुक्मम् । रत्नम् । आत्मा । स्वप्नः । पाप्मा । द्वित्वसिद्धा आगमा वा अपञ्चमस्पर्शा विंशतिर्यमा इत्येकदेशीयमतम् ॥ क ख ग घ इति चत्वार एव यमा इति केचित् । तत्रैते चत्वारो द्वित्वसिद्धा वर्णा एव यमा इत्येके । वर्णागमा इति तु तैत्तिरीयाः । आर्त्क्नी । सक्थ्क्ना । यज्ञ इति वर्णागमत्वात् कङौ यमौ । ङकारे यमे तन्निबन्धनं जस्य कुत्वमिति यज्ञशब्दे गकारङकारञकाराः संयोगः ॥ आर्षोच्चारणप्रचारभूयस्त्वादिह यमसहितोच्चारण-संप्रदायप्रवृत्तिः । लोकमात्रप्रयुक्ते तु शब्दविशेषे तथोच्चारण-

संप्रदायो नास्ति। याच्ञा। केचित्तु राज्ञ इत्यत्र जकार-ञकार-मध्यवर्त्तिनो यमस्य जस्य नासिक्यत्वोपरञ्जने प्राप्ते तालुस्पृष्टो नासिक्यः प्रयत्नविरोधान्नास्तीति कृत्वा स्थानपरिवर्ते द्रुत्या गस्वरूपत्वम्। ततो गकारपरत्वे पूर्वस्यापि जस्योपरञ्जनाद् गत्वमित्याहुः। ञकारोऽयं तालुस्पृष्टो नासिक्योऽस्तीति तु नाशङ्क्यम्। तस्य नासिक्यान्तःस्थतये-षत्स्पृष्टत्वात्। स्पृष्टस्तालव्यो नासिक्यो नास्तीत्यत एव तत्स्थानेऽन्तः-स्थोऽनुनासिकः प्रातिनिध्येनोच्चार्य्यते इति विज्ञेयम्। केचित् त्वाहुः—नैते यमा विंशतिः। न वा चत्वारो नाप्येते वर्णाः सन्ति, किन्तु—

जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः।
अशरीरं यमं विद्यात् संमार्ज्ज्मीति निदर्शनम् ॥१॥

इत्यमोघनन्दिन्याद्युक्तेर्यमस्याशरीरत्वसिद्धान्तान्नैतस्योच्चारणं शक्यम्। तथा चाह कात्यायनः—

"**अन्तःपदेऽपञ्चमाः पञ्चमेषु विच्छेदम्।**

—रुक्क्ऽमेत्यादौ कद्वित्वे तत उत्तरं पञ्चमात् प्राग् नासिक्या-नासिक्यविरोधप्रभावान्मध्ये यतिरुत्पद्यते तदिदं विच्छेदमात्रं यमो न वर्ण इत्यभिप्रायः। विभिन्नोच्चारणसंप्रदायाधीना ह्येताश्चतस्रः प्रतिपत्तयो भवन्तीति बोध्यम्। चतुर्ष्वपि संप्रदायेषु पूर्वाक्षरे सत्येवायं यमः स्थानं लभते नान्यथा। तस्मात् सिद्धान्तकौमुद्यां घ्नन्तीति यमोदाहरणं निघ्नन्ति विघ्नन्तीत्याद्यमिप्रायं द्रष्टव्यम्। ज्ञाने तु यमो नास्ति। ज्ञाधातोर्गकार-पूर्वकानुनासिकतालव्येषत्स्पृष्टा-रब्धत्वावगमात्। तदित्थं सप्तनवति (९७) वर्णोऽयमार्षेयोऽक्षर-समाम्नायः।

इति प्रथमः खण्डः ॥१॥

साप्ताशीतिशतिको

द्वितीयः खण्डः । २ ।

१ कैश्चित्पुनरेभ्यो निरूढ-यौगिका-योगवाहेभ्योऽन्येऽपि नवतिरोप-पादिका वर्णा इष्यन्ते । तेषामपि संग्रहणे तु सप्ताशीतिशतं ते सर्वे छन्दोभाषाम्नायवर्णा (१८७) भवन्ति । ते यथा

२	अ	आ	अ ३
	इ	ई	इ ३
	ऋ	ॠ	ऋ ३
	ऌ	०	ऌ ३
	उ	ऊ	उ ३

इति ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाद् भाविस्वराश्चतुर्दश । ऌकारस्य दीर्घो नास्ति ।

३	ए	ए ३	॥	ऐ	ऐ ३
	ओ	ओ ३	॥	औ	औ ३

इति सन्ध्यक्षरस्वरा अष्टौ ॥ ८ ॥

---

४ ते चोभये प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदाद्भिन्ना इति षट्-पष्टिः ॥ तेषां शुद्धस्वरत्वं विवृतत्वमस्पृष्टत्वं च साधर्म्यम् । ऌकारः प्लुतोऽस्तीति कृत्वा तद्भेदास्त्रयोऽधिका इह निर्दिशिताः ।

---

५ रलपूर्वा उष्मवर्णा ऋऌवर्णौ च स्वरभक्तिस्थानानि । स्पर्शः । हर्षः । अर्हः । एषु रेफोष्मणोरन्तरतः स्वरभक्तिः । ऋऌवर्णयोस्तु स्वरभक्त्योरन्तरतो रेफलकारौ । यथोक्तं कात्यायनेन

"ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ"

इति (का. प्रा. ४ : १४६)

---

६ ऽ य र ल व—इतोषत्स्पृष्टान्तस्थाः ईषन्नादाः पञ्च । तत्राऽदिवर्णो विवृतिः । यथाह याज्ञवल्क्यः—

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते
विवृतिस्तत्र विज्ञेया यऽईशेति निदर्शनम्॥१॥

---

७ अ॒ य॒ ड़ ळ॒ व॒ इति दुःस्पृष्टान्तस्थाः पञ्च ॥५॥ तत्रादिवर्णः संवृतोऽकारः । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतं प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । यत्तु प्र उ ग- शब्दे यकारस्थानीयस्तद्विकारसिद्धः संवृतोऽकारः । तेनोकारे विवृते तस्य सन्धिर्नास्ति इत्याहुः केचित् तन्न । यकारस्थानीयविवृत्यैव तत्रापि सन्ध्यभावसंभवात् । वस्तुतस्तु य॒कारस्येषत्स्पृष्टस्य प्लुतिप्रतिक्षेपाद् वकारत्वे सजातीयाभिभावकत्वा-दनभिव्यक्तचा लोपः । तथा च न यकारस्थाने विवृत्यकारः संवृताकारो वाऽऽदिश्यते । प्रशब्दाकारस्तु संवृतो विवक्षितः । तस्मान्न सन्धिः ।

---

८ यवयोर्दुःस्पृष्टयोः पदादौ यरहानुस्वारपूर्वत्वे च स्थानम् । दुःस्पृष्टयवोच्चारणे ईषत्स्पृष्टापेक्षया किंचिदधिकस्पर्शोपपत्त्या स्पृष्टापेक्षया त्वल्पस्पर्शोपपत्या तदुभयरूपाभासः ॥ उक्तं च प्रतिज्ञासूत्रे—

"अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्याग्यहल्संयुक्तासंयुक्तस्य रेफो-ष्मान्त्याभ्यामृकारेण चाविशेषेणादिमध्यावसानेषूच्चारणे जकारो-च्चारणं द्विर्भवेऽप्येवम् ।"

इति—यकारस्य लघुप्रयत्नतरस्य सतो जकारोच्चारणं ब्रुवता यकारजकारयोर्मध्यमवृत्योच्चारणमभिप्रेयते । तथा नारदोऽप्याह—

पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च ।
जः शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः ॥१॥

ज इति जकारवदाभासमाह । यदुः । यमः । शय्या । निकाय्यस्। सूर्य्यः । वीर्य्यम् । आन्तर्य्यमित्यत्र रेफयकारसंयोगयोर्भिन्नसंस्थयोरुच्चारणक्रमे यो भेदो दृश्यते तत्र रेफस्य पराङ्गत्वपूर्वाङ्गत्वे, यकारस्येषत्स्पृष्टत्वदुःस्पृष्टत्त्वे च हेतू भवतः । रेफस्य पूर्वाङ्गत्वे सत्येव यकारस्य दुःस्पृष्टत्वसिद्धान्तात् ॥ सह्यम् . बाह्यम् । अहंयुः । शंयुः । यकारस्येह दुःस्पृष्टत्वेऽनुस्वारोऽनुनासिकयकारो वा भाष्यते । येषां त्वीषत्स्पृष्टत्वं यकारस्येष्यते तेषामयं शम्युशब्दः स्मर्य्यते । वरः । वीरः । वाय्वोः । सर्व. । विह्वलः । शंवूकः ।

..वकारस्य तु दुःस्पृष्टस्य पदादिवत् पदमध्यं संयोगादिश्च स्थानम् । देवः, शिवः, काव्यम्, भव्यम्,॥ यम्या यद्यपीत्यादौ, विश्वं विद्वानित्यादौ च प्रथमौ यकारवकारौ गुरुप्रयत्नत्त्वाद्दुःस्पृष्टौ भवतो द्वितीयौ तु लघुप्रयत्नत्वादन्तस्थौ विज्ञायेते ॥

९ पदादौ संयोगादौ च दुःस्पृष्टस्य डस्य प्रतिषेधः । डमरुः, कुड्यः, वड्रः । कुड्मलादिषु संयोगादौ क्वचित्स्पृष्टदुःस्पृष्टयोर्विकल्पः । स्वरद्वयमध्ये त्वस्य दुःस्पृष्टस्य डस्योच्चारणस्थानम् ॥ निगडः ।

"छन्दसि स्वरमध्यस्थस्य डस्य ळत्वं वक्तव्यम्" । अग्निमीळे । माध्यन्दिनानामयं नास्ति ।

——

१० ह श ष स ह—इत्यूष्माणः पञ्च ईषच्छ्वासाः अर्द्धस्पृष्टाः । तत्रैतौ हकारौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ नामाख्यायेते । जिह्वामूलीयकण्ठ्ययोः प्रभवसादेश्यात् कण्ठ्यस्याप्येतेनैवोपसंग्रहः ॥ हकारोऽयं पञ्चस्थानो

भवति । कण्ठ्यतीव्रस्पृष्टप्रत्ययत्वे स जिह्वामूलीयः । ᳵकᳵख इति ॥१॥ ओष्ठ्यतीव्रस्पृष्टप्रत्ययत्वे स उपध्मानीयः । ᳶपᳶफ इति ॥ २ ॥

जिह्वामूलीयोपध्मानीययोरुच्चारणसाम्येऽपि स्थानभेदाद्वर्णभेदाभिमानः। मुखमध्यस्थानीयादर्धस्पृष्टप्रत्ययत्वे स विसर्जनीयो नामोच्यते । कः शमः । कः षडङ्गः । कः सुतः । अवसानेऽपि विसर्गः । कः । उभयत्राश्रयस्थानत्वाविशेषादेकवर्ण्याभिमानः ॥ ३ ॥ नासिक्यान्तःस्थप्रत्ययत्वे स औरस्यः । ह्नः ह्नः ॥

"अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः" इति हि शैक्षिकाः पश्यन्ति ।

आद् ऋकाराच्च कण्ठ्यः स्यादि ऐकारात्तु तालुजः ।
उ औकारात् स औष्ठ्यः स्यादेकारात् कण्ठतालुजः ॥ ,॥
ओकारात्तु स कण्ठोष्ठ्यो विसर्ग इति निर्णयः ।
पूर्वस्वरस्थानभाक्त्वात् स्वरभक्तिस्तथोच्यते ॥२॥
देवः सह, मतिःसाहि सर्वैः साहि हुवत्पशुः ॥
नौः सहुर्हेमतेः साधोः सहोवदिति भाव्यताम् ॥३॥
लघुमाध्यन्दिनीयायां शिक्षायां दर्शितस्तथा ॥
विसर्गस्वरभक्तीनां भेद उच्चारणक्रमे ॥४॥

अथ नासिक्यान्तःस्थप्रत्ययत्वे सहकार औरस्यः, ह्ल ह्न ह्म ह्य ह्ल ह्व ॥ ४ ॥ अथास्पृष्टप्रत्ययत्वे स कण्ठस्थान. सह सहितो हुतो हृदि ॥ नातोऽन्यत्र हकारः प्रयुज्यते । तेष्वेतेषु पञ्चसु हकारेषूच्चारणमर्द्धस्पृष्टप्रयत्नश्च साम्येनोपपद्येते ॥

——

११ मुखे त्रीणि स्थानत्रयाणि—प्रथमानि मध्यमान्युत्तमानि चेति। उरः कण्ठः कर्णमूलमिति प्रथमानि। तालुमूलं, मूर्द्धा दन्तमूलमिति मध्यमानि । सृक्का, उपध्मा ओष्ठमित्युत्तमानि ॥ तेषु प्रथमस्थानत्रये उत्तमस्थानत्रये चार्द्धस्पृष्टत्वेऽनभिव्यक्तभेदं ह इति समानमिव रूपं

संभवति । मध्यमस्थानत्रये त्वर्द्धस्पृष्टत्वे हकाराद् भिन्नरूपत्वेऽपि त्रयाणामुष्मणामत्यल्पभेदं समानमिव रूपं जायते शषस इति । तत्र मध्यमस्य मूर्धन्यषकारस्य कवर्गद्वितीयवदुच्चारणं माध्यन्दिनीयाः कुर्बन्ति । यथोक्तं केशवीसूत्रे "षः खष्टुमृते च" इति ॥

सोऽयमज्ञाननिमित्तः संप्रदायविशेषो नत्वत्र प्रयत्नदोषादिकारणं प्रतिपद्यते । उच्चारणमात्रमन्यथा क्रियते नतु लिपौ व्यत्यास इति बोध्यम् ॥

——

१२ स्वरभक्तिरेका, दशान्तःस्थाः, अष्टोष्माणः,—इत्येतेषां स्वरव्यञ्जनोभयसधर्म्मणामेकान्न (कोन) विंशतिवर्णानामल्पस्पृष्टत्वमल्पविवृतत्वं च साधर्म्यम् ॥

——

१३ ग. ज. ड. द. व—इति घोषाः संवृता ईषन्नादाः स्पृष्टाः पञ्च ॥५॥ क. च. ट. त. प—इत्यघोषा विवृता ईषच्छ्वासाः स्पृष्टाः पञ्च ॥५॥ एषां दशव्यञ्जनवर्णानां पूर्णस्पृष्टत्वमल्पप्राणत्वं निरनुनासिकत्वं च साधर्म्यम् ।

——

१४ ढ़ ऴ ह्—इति दुःस्पृष्टौ द्वौ ॥२॥ तथा चाह कात्यायनः— "डढौ ऴऴह्वावेकेषाम्" (का० प्राति० ४।१४४।) इति ॥ एतच्च स्वरमध्ये समानपदे द्रष्टव्यम् । अषाढ़ा । अषाऴ्हा । अत्र द्वितीयो वर्णो माध्यन्दिनानां नास्ति ॥

——

१५ घ. झ. ढ. ध. भ—इति नादाः संवारा घोषाः पञ्च ॥ ५ ॥ ख. छ. ठ. थ. फ—इति श्वासा विवारा अघोषाः पञ्च ॥५॥ एषां द्वादशव्यञ्जनवर्णानां स्पृष्टत्वं सोष्मत्वं महाप्राणत्वं च साधर्म्यम् ।

र. ल. ङ. ण. न. मादोनामपि सोष्मत्वं संभाव्यते; किन्तु छन्दोभाषायां तेषामनाम्नाना(या)दनादरः ॥

——

१६ अँ. इँ. ऋँ. लृँ. ऊँ—इति नासिक्या भाविनः स्वरा ह्रस्व-दीर्घप्लुतभेदाच्चतुर्दश ॥१४॥ "लृकारस्य दीर्घत्वं नास्ति" ॥ विशुद्ध-विवृताकारस्य मूलप्रकृतितया भावित्वाभावेऽप्यनुनासिकस्य भावित्वं नापोद्(ह्)यते । एँ ऐँ. ओँ. औँ—इति नासिक्याः संध्यक्षरस्वरा दीर्घ-प्लुतभेदादष्टौ ॥८॥ ते चोभये प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदाद्भिन्ना इति षट्षष्टिः ।(६६)। तेषामनुनासिकत्वमस्पृष्टत्वं विवृतत्वं च साधर्म्यम् ॥

——

१७ अं—इत्यत्र स्वरादुत्तरोऽनुस्वारवर्णः ॥
आ ँ—इति विशुद्धाद्दीर्घस्वरादुत्तरो रङ्गवर्णः ॥
यँ. वँ. लँ—इति त्रयोऽन्तस्थाः ॥
कुँ. खुँ. गुँ. घुँ—इति चत्वारो यमाः ॥
ङ ञ ण न म—इति नादाः संवारा घोषाः पञ्च ॥

एषां चतुर्दशानां नासिक्यत्वं साधर्म्यम् । अत्र तालव्यानामल्पप्राणघोष-स्पृष्टदुःस्पृष्टेषत्स्पृष्टानामनुनासिकत्वे समानमुच्चारणं भवतीत्यनुना-सिकेषत्स्पृष्टापेक्षया पृथक्त्वेन चवर्गपञ्चमनासिक्यस्य वर्णान्तरत्व-व्यवस्थापनं नोपपद्यते । तथापि चिरंतनलोकव्यवहारानुरोधादिह वर्णान्तरत्वमाख्यातमिति सन्तोष्टव्यम् ॥

मुखमध्यस्थानां तालव्यमूर्द्धन्यदन्त्यानामनुनासिकानां मृदुतीव्रस्पृष्ट-परत्वेऽनुस्वारवत् समानमुच्चारणं भवति । "सञ्चारः । सञ्जयः । कण्ठः । काण्डः । दन्तः । स्कन्दः । इत्येवमेषामुच्चारणे विशेषानुपलब्धेः ॥ एवमपि—अस्पृष्टेषत्स्पृष्टपरत्वे गुणगुण्यादौ विशेषोपलब्धिरस्तीति णकारस्य वर्णान्तरत्वं युक्तम् ॥ "अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीय-यमानामयोगवाहत्वं साधर्म्यम् ॥ तदित्थं छन्दोभाषायां सप्ताशीतिशतं

वर्णाः सिद्ध्यन्ति ॥१८७॥ येषां तु मते विंशतिर्यमा इष्यन्ते तेषां त्र्यधिकं शतद्वयम् [२०३] वर्णानामुपपद्यते । तथाच सप्तनवतिर्वा, सप्ताशीतिशतं वा, त्र्यधिके द्वे शते वा वर्णा यत्र मतभेदेनाम्नायन्ते, सैषाऽऽर्षेयी वर्णमातृका पथ्यास्वस्तिः प्रतिपत्तव्या ॥२॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

मातृकानुवाके

॥ अथ ब्राह्मो वर्णसमाम्नायः

चातुःषष्टिकस्तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

१　संक्षेपतश्चतुःषष्टिरेवैते वर्णा आम्नायन्ते । तदुक्तं पाणिनिना—

त्रिषष्टिर्वा चतुःषष्टिर्वर्णाः संभवतो मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ॥१॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥२॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ꣵक ꣵपौ चापि पराश्रयौ ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च ॥३॥ (इति)

२

अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
लृ	०	०

	०	ए	ए ३
	०	ऐ	ऐ ३
	०	ओ	ओ ३
	०	औ	औ ३—इति स्वरा एकविंशतिः ॥२१॥

——

३ ग ज ड द ब
क च ट त प
घ झ ढ ध भ
ख छ ठ थ फ
ङ ञ ण न म—इति पञ्चविंशतिः स्पर्शाः ॥२४॥

——

४ य र ल व
श ष स ह—इत्यष्टौ यादयः ॥८॥

——

५ ᳵ क—इति जिह्वामूलीयः ॥
ᳶ प—इति उपध्मानीयः ॥
अं—इत्यनुस्वारः ।
अः—इति विसर्जनीयः ।
कुँ खुँ गुँ घुँ—इति यमाः । इति अयोगवाहा अष्टौ ॥८॥

——

६ ळ—इति दुःस्पृष्ट एकः ॥१॥

——

७ लृकारः प्लुतः प्रयोगतो नास्तीति त्रिषष्टिः । संभवतोऽस्तीति चतुःषष्टिः ।

८ कात्यायनस्तु प्रातिशाख्ये हुमिति नासिक्यमधिकं मन्यमानः प्राह—

त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः ॥
द्विचत्वारिंशद् व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसंग्रहः ॥१॥
एते पञ्चषष्टिर्वर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः ॥
यत्किञ्चिद् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम् ॥२॥

——

९ स्वरमन्तरेणोच्चारयितुमशक्यत्वादनुस्वारविसर्गयोर्व्यञ्जनत्व-सिद्धान्तः ॥

——

१० उदात्तानुदात्तस्वरितानामैकभाव्यविवक्षणान्न स्वरातिरेकः । स्वरभक्तेः स्वरेऽन्तर्भावः । विवृत्तेः संवृताकारस्य चाकारेऽन्तर्भावः दुःस्पृष्टान्तस्थानामीषत्स्पृष्टान्तस्थैरुपसंग्रहः । औरस्यहकारस्य कण्ठ्यहकारेणोपसंग्रहः । रङ्गस्यानुस्वारेऽन्तर्भावः ॥

——

११ अस्य चाक्षरसमाम्नायस्य ऋक्तन्त्रव्याकरणे संप्रदायः श्रूयते । यथा-
"इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तम् । ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच । बृहस्पतिरिन्द्राय । इन्द्रो भरद्वाजाय । भरद्वाजः ऋषिभ्यः । ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः । तं खल्विममक्षरसमाम्नायं ब्रह्मराशिरित्याचक्षते । न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयात्" । इति ।

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥३॥

——

ऐकपंचाशिकश्चतुर्थः खण्डः ॥४॥

अथ माहेश्वरो वर्णसमाम्नायः

१ तत्रैकपञ्चाशद्वर्णा आम्नायन्ते ।

२

अ	इ	उ	ऋ	ऌ
०	ए	ओ	ऐ	औ
ह	य	व	र	ल
ञ	म	ङ	ण	न
झ	भ	घ	ढ	ध
ज	ब	ग	ड	द
ख	फ	छ	ठ	थ
च	ट	त	क	प
श	ष	स	ह	०

——

३ अनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीयोपध्मानीय-यमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यानम्—इति महाभाष्यम् । एतैरेकपञ्चाशद्वर्णैः सर्वेऽप्यन्ये वर्णा उपसंगृहीता भवन्ति ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥४॥

——

साप्तत्रिंशिकः पंचमखण्डः ॥५॥

होडाचक्रनाम्नी आसुरी वर्णमातृका सप्तत्रिंशद्वर्णा ।

१ असुराणां पुरात्वे बहवोऽवान्तरभेदा आसन् । तेष्वेको मयासुर-विभागो विद्याशिल्पकलावीरतासभ्यतागुणविशेषाच्छ्रेष्ठ आसीत् एष एवासुरविभागः पुरात्वे यवन इत्याख्यायते स्म ।

तस्य च वर्णमातृका होडाचक्रनाम्नी पुरायुगे सप्तत्रिंशिकाऽऽसीत् । सा यथा—

अ व क ह ड
म ट प र त
न य भ ज ख
ग स द च ल—इति प्रस्तीर्या वर्णा विंशतिः ॥२०॥

——

२ अ· इ · उ · ए · ओ—इति मात्रावर्णाः पञ्च ॥५॥

——

३ घ ङ छ
ष ण ठ
ध फ ढ़
थ झ ञ—इति परिशिष्टा वर्णा द्वादश ॥१२॥

——

४ प्रस्तीर्येष्वकारः संवृतो व्यञ्जनवत् । मात्रावर्णेषु त्वकारो विवृतः स्वर इति भेदः । प्रस्तीर्याणां मात्रायोगात् प्रस्तारे स्वरिताः शतं वर्णाः स्युः । ते यथा—

(१)		(२)	
	अ. ब. क. ह. ड		म. ट. प. र. त
	इ. बि. कि. हि. डि		मि. टि. पि. रि. ति
	उ. बु. कु. हु. डु		मु. टु. पु. रु. तु
	ए. बे. के. हे. डे		मे. टे. पे. रे. ते
	ओ. बो. को. हो. डो		मो. टो. पो. रो. तो

(३)		(४)	
	न. य. भ. ज. ख		ग. स. द. च. ल
	नि. यि. भि. जि. खि		गि. सि. दि. चि. लि
	नु. यु. भु. जु. खु		गु. सु. दु. चु. लु
	ने. ये. भे. जे. खे		गे. से. दे. चे. ले
	नो. यो. भो. जो. खो		गो. सो. दो. चो. लो

अबजद, हव्वज़, हुत्ती, कलमन्—इत्येवमन्यापि काचिदबजद-नाम्नी वर्णमातृकाऽऽसीत् । तस्या आर्यैरपरिग्रहादिह त्यागः ॥*॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥५॥

वर्णनिर्देशादिपरिशिष्टविचारः षष्ठः खण्डः ॥६॥

अवयवपरिच्छेदो मात्रा । ध्वनिपरिच्छेदानां वर्णत्वमिति वर्णात्मिका परिच्छित्तिर्मात्रिका भवति । उच्चारणसामान्यान्मातृका । अपि वा जनन्यां मातृशब्दः प्रसिद्धः । जनयित्री ह्रीयं वर्णमाला तत्तद्देशभाषाणामिति मातृकाख्यायते ।

भाषायां प्रथमतः प्रवृत्तायां कालेन तत्र वाक्यानि, वाक्ये च पदानि पदे च वर्णाः विभज्य परिगृहीता अभवन् । तत्र तत्तद्वर्णादिपदविशेषेण तत्तद्वर्णसंज्ञा प्रथमयुगे प्रवृत्ताऽऽसीद् । यथा "रेफः" इत्यधमवचनेन पदेन रस्य संज्ञाऽक्रियतेति प्रथमः कल्पः ॥१॥

तत इति शब्दो वर्णसंज्ञाकरणः प्रवृत्तोऽभूदिति कात्यायनादयः प्राहुः । यथा—"निर्देश इतिना"—(१।३६।)इति । एत्यकारस्य । विति वकारस्य । डिति डकारस्य । ईतीकारस्य । सोऽयं द्वितीयः कल्पः ॥२॥

ततः कारशब्दो वर्णसंज्ञाकरणः समपद्यत । **"कारेण च । अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य"** १।३९। इति कात्यायनोक्तेः। अकारः ककारः इत्यादि । सोऽयं तृतीयः कल्पः संप्रति प्रचरति । **"र एफेनच"** इति सूत्रयन्तस्तु ते रकारं रेफशब्देनापि व्यपदेष्टुमिच्छन्ति । पदेषु वर्णव्याकरणस्य सर्वतः पूर्वं रेफशब्देनैवारम्भणात् । तत्स्मरणार्थं रवर्णाभिज्ञानस्य माङ्गलिकस्य रेफशब्देनैव विवक्षितत्वात् । यत्तु—**"स्वरैरपि"**—(का. प्रा. १।४०।) इति कात्यायनादयः प्राहुः । तत् सर्वभाषासाधारणमनुशासनं भवति । तथाहि नागरीभाषायां तावत्—क. ख. ग. घ. ङ—इत्यकारेण वर्णा निर्दिश्यन्ते । इंग्लिशभाषायाम्—ए वि सि डि इत्यादिष्विकारेण, जे के-इत्येकारेण वर्णानां संज्ञा क्रियते ॥ पृष्ठतोऽप्ययमेकारः क्वचिन्निर्दिश्यते । एफ् एल् एम् एन्. एस्. एक्ष.—इति । आकारोऽपि क्वचिद् यथा—आर—इति ॥ पारस्थानभाषायामेकारो यथा—बे. पे. ते. टे. से—इत्यादि । अलिफ-शब्दस्तु—"अलिपि इत्यस्यापभ्रंशमात्रम् । जीम्. मीम्. स्वाद. सीन—इत्यादयस्तु संस्कृतरेफशब्दवत् प्राचीनसंप्रदायसिद्धाः पदाभिज्ञानोपपन्ना वर्णसंज्ञा द्रष्टव्याः । ते च शब्दा रेफवन्माङ्गलिका इति भाव्यम् ॥

इति षष्ठः खण्डः ॥६॥

———

इति मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे मातृकापरिष्कारः प्रथमः प्रपाठः समाप्तः ॥१॥

———

यमानुवाके विच्छेदप्रतिपत्तिः आगमप्रतिपत्तिश्च ॥२॥

अथ यमपरिष्कारो

द्वितीयः प्रपाठकः

अथातः प्रागुक्तो यमः पुनरिह वैशद्येन चिन्त्यते । शुद्धजित्-सोष्मजितौ द्वौ, शुद्धधिसोष्मधी द्वाविति चत्वारो यमाः । ते च कुं. खुं. गुं. घुं. शब्दैः संज्ञायन्ते । यमस्वरूपे चतुर्धा विप्रतिपद्यन्ते ।

१ एकस्मिन् वर्णे पूर्वाक्षरपराक्षयोर्युगपद्बलसंप्रसक्तौ बलद्वयविप्रतिषेधाद् वर्णो द्विरुच्यते । तत्र द्वितीयस्यानुनासिकपरत्वे नासिक्यत्वमतस्तत्र यमशब्दः । पूर्वस्य निरनुनासिकतयाऽनुनासिकस्यैतस्य प्रयत्नान्तरग्रहणार्थं मध्ये किञ्चिद्विच्छेदलाभात् । विच्छेदयमयोरैकार्थ्यात् ॥ प्रयत्नान्तरत्वं तु पूर्वस्पृष्टविलक्षणं संवृतत्वम् । तथा चाह मण्डूकः—

वर्णानां तु प्रयोगेषु करणं स्याच्चतुर्विधम् ।
संवृतं विवृतं चैव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च ॥१॥
स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्तःस्थानामतोऽन्यथा ।
यमानां संवृतं प्राहुर्विवृतं तु स्वरोष्मणाम् ॥२॥इति ।

अत्र पक्षे यमो वर्णागमः सशरीरः पूर्वसदृशो वर्णविशेषः ॥

स्वरात् संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः ॥
तस्यैव यमसंज्ञा स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि ॥१॥

इति वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षोक्तेः । "अनन्त्यान्त्यसयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः"—इत्यौदव्रजिसूत्राच्च । तस्य विंशतिसंख्यत्वेऽपि शुद्धजित्व-सोष्मजित्व-शुद्धधित्व-सोष्मधित्वैः संग्रहणाच्चतुष्ट्वं नोपहन्यते । इत्येका प्रतिपत्तिः ॥१॥

२ परे त्वाहुः—पदद्वयमध्ये यतिर्विवृतिरर्धमात्राकालः । दशरामशरा इत्यत्र शमयोरुत्तरं विप्रकर्षविशेषानुभवात् । सदा स आयातो-

त्यत्र प्रथममद्विरतावन्योऽर्थः दाक्षरादन्योऽर्थः ।

काकाली कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा ॥

कंस जघान कृष्णः कम्बलवन्तं न बाधते शीतम् ॥

इत्येतेषु तत्र तत्र यतिवैशेष्यादेवैतानि प्रश्नवाक्यान्युत्तरवाक्यरूपायोपकल्पन्ते ॥

कागदही की आस में बैठे निपट उदास

कागदही पाये बिना मिटे न मन की प्यास ॥१॥

इह भाषापद्ये पदान्तविरतित्रयभेदादर्थत्रयमुपपद्यते ॥

तथा च—"सक्रतु" रित्यत्र ककारपृष्ठे सा विरतिरुपपद्यते । सऽक्रतुः । अथ कदाचित् सा ककारात् पुरतो विक्षिप्यते । पराङ्गेऽपि ककारे पूर्वाक्षरबलाक्रमणे न पूर्वसन्निकर्षातिशयोपपत्तेः । परबलशैथिल्यात्तु-कस्य पराङ्गत्वं व्याहन्यते । तेन सऽक्रतुरितिवक्तव्ये सक्ऽरतुरि-त्युच्चारः । अथ बलद्वयविप्रतिषेधे कस्य द्वित्वमिति कद्वयान्तराले सा विरतिर्निक्षिप्यते । सक्ऽक्रतुरिति । नक्तमित्यादौ पदविर-त्यभावेऽप्यक्षरद्वयान्तरालविरत्या त्रैविध्यमुपपद्यते—न-क्तम् । नक्-तम् नक्-क्तमिति । अथानुनासिकपरत्वे तच्छायापत्त्या विरतेरस्या ना-सिक्यत्वं प्रसज्यते । तस्याश्च यमसंज्ञा । अत्र पक्षे यमः शरीरशून्यो विच्छेदात्मा ।

जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः ॥

अशरीरं यमं विद्यात् संमाज्मीति निदर्शनम् ॥१॥ इति

अमोघनन्दिनीशिक्षोक्तेः ॥ **"अन्तःपदेऽपञ्चमा पञ्चमेषु विच्छेदम्" (१३९)** इति प्रातिशाख्यसूत्रं व्याचक्षाणे **प्रदीपे विच्छेद इति यमसंज्ञा** इत्युक्तेश्च । स्वरयोर्विच्छेदे विवृतिशब्दः । व्यञ्जनयोर्विच्छेदे यमशब्द इति व्यावहारिकसमयः । हरऽएहीति विवृतिः । पलिक्ऽक्नीति यमः । यमस्य विच्छेदमात्रत्वेऽपि पूर्वव्यंजनचातुर्विध्यनिबन्धनं चतुष्ट्वमुप-चर्य्यते । इत्यन्या प्रतिपत्तिः ॥२॥

३. अन्ये त्वाहुः । **संयोगविभागशब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिरिति** भगवान् कणादः प्राह । दृश्यते च—ऊर्क्-क, हरित-त, फट्-ट इत्यादौ

व्यञ्जनान्तपदविरामे पदान्तव्यञ्जनोच्चारणार्थं वेगात् क्रियमाणे स्थान-करणसंयोगे संयोगजो वर्णः सद्यः प्रतिभासते। अथ शैथिल्येन तत्संयो-गोपरमे वर्णान्तरानुत्पत्तावपि सद्यस्तरसा तत्संयोगप्रत्याकर्षे विभागजस्तत्र पूर्वसदृशो वर्णः प्रादुर्भवति। पदविरामवत् पदमध्येऽपि संयोगादेर्विच्छिद्योच्चारणे संयोगजवर्णोत्तरं स विभागजो वर्णः संभवति। एष एव तु सोष्मरहवर्जं सर्वत्र वर्णद्वित्वहेतुर्द्रष्टव्यः। स विभागज एवानुनासिकपरत्वे तत्प्रयत्नाकृष्टतया नासिक्यतां प्राप्तो यम उच्यते। पलिक्-क्नीति। सक्थ्-थ्नेत्यादौ ककारादप्यग्रे थकारे विराम इति तस्यैव विभागजत्वे यमसंज्ञा ॥

द्विरुक्तिं वर्जयेन्नित्यं यमेऽपि परतः स्थिते ॥
सक्थ्ना देदिश्यते नारी ककारोऽत्रैक एव हि ॥१॥ इति

वर्णरत्नप्रदीपिकायां कद्वित्वनिषेधात् ॥ **"सर्वेषां व्यञ्जनानां द्विर्भावो-भवति द्वादशवर्जम्"। ते ख छ ठ थ फ घ झ ढ ध भ रहौ चेति—"** गौतमसूत्रमते तु—थ-घटकस्य तस्य द्विरुक्तिरिति विशेषः ॥ **"प्रथमैर्द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्थाः"** ॥१३९॥ इति कात्यायनप्रातिशाख्य-सूत्रे तथोक्तेः। तदित्थं विंशतिर्यमाः ॥३॥

॥ इत्यन्या प्रतिपत्तिः ॥३॥

अपरे त्वाहुः—न विंशतिर्यमाः किन्तु क. ख. ग. घ. सदृशध्वनयो नासिक्याश्चत्वार एव यमाः कुं. खुं. गुं. घुं. संज्ञाः। आतनच्मीत्यत्रा-त्तनच्क्मीति। संमाज्र्मीत्यत्र संमार्ज्-ग्मीति। आट्णोत्पत्र आट्. क्णोति। रत्नमित्यत्र रत्-क्नमिति। सक्थ्नेत्यत्र सक्थ्-ख्नेति। विघ्न इत्यत्र विद्-ग्म इति। दध्म इत्यत्र दध्-घ्म इति। पाप्मेत्यत्र पाप्-क्मेत्यु-च्चारणात् ॥ एतदुक्तं पाणिनीयशिक्षाभाष्ये शिक्षाप्रकाशे "अन्तर्वत्क्नीति तकारयमककारनकारेकाराः ॥ यञ्ज इत्यत्र जकार-पूर्ववर्ण-वर्गसंख्य-सवर्णयमगकार-ञकारा इति ॥ शिक्षाभाष्यानुमत्यैतदुच्चारणमाख्यातम्। वस्तुतस्तु कुंकार-गुंकारयोः कवर्ग्यतया तत्स्थानचवर्ग्यस्थानयोरानन्तर्यात् पूर्वप्रयत्नापकर्षेण यमे प्रत्यये चवर्ग्यः कवर्ग्यत्वमापद्यते। उक्तं च भगवता

पाणिनिना—"**चोः कुर्झलि पदान्ते चेति**"॥ तेन आतनच्च्मीतिवक्तव्ये कुंकारादातनच्क्मीति; ककारयमककारमकाराः। संमाज्मीत्यत्र गुंकारात् संमाग्मीति; गकारयमगकारमकाराः। यज्ञ इत्यत्र गुंकारात् यग्ग्ञ इति। विज्ञानमित्यत्र च विग्ग्ञानमिति गकारयमगकारञकाराः॥ इतीत्थमेव सर्वत्रोच्चारणं संप्रदायसिद्धमवकल्पते॥

ज्ञानमित्यत्रापि मध्ये गुंकारो नियम्यते। (१) "**अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः**"—इत्यौदव्रजिसूत्रात् ॥१॥

(२) **अनन्त्यान्त्यसंयोगेऽनन्त्यपूर्वेऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते तत्र यमा वर्तन्ते न संशयः।**" इति गौतमसूत्राच्च ॥२॥

(३) अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि॥
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः। इति नारदोक्तेश्च।

(४) अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं पञ्चमाक्षरम्॥
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि ॥४॥

(५) पञ्चमाः शषसैर्युक्ताः अन्तस्थैर्वापि संयुताः॥
यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः ॥५॥
इतियाज्ञवल्योक्तेश्च

(६) स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः संयोगाश्चेदनुक्रमात्॥
आनुपूर्व्यां यमांस्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा ॥६॥

इति मण्डूकोक्तेश्च ॥६॥ तस्य गुंकारस्य झल्त्वाज्जकारो गत्वमापद्यते। तेन ज्ञानमिति गकारगुंकारञकारा इति उच्चारणसंप्रदायो वैदिकानुमोदितो लोकेऽपि प्रयुज्यते। घृधातोर्वैदिकस्य घृतादिष्ठ लोकेऽपि प्रयोगवत्॥ यत्तु ज्ञानं विज्ञानमित्यादावेक एव गकारः प्रतिभाति न तु गुंकारः पृथक् प्रतीयते। अप्रतीतश्च नास्तीति शक्यं वक्तुमिति कश्चिद् ब्रूयात्। तन्न। पूर्वस्पर्शयमयोः संयोगस्यायस्पिण्डतया घनबन्धात् पार्थक्येनाप्रतीतावपि प्रकृतिसिद्धार्थस्यापलापानर्हत्वात्।

त्रिविधो हि पिण्डः स्मर्य्यते भगवता गौतमेन—

त्रिविधः संयोगपिण्डो भवति—अयस्पिण्डो दारुपिण्डस्तथोर्णापिण्डश्चेति । यमसहितमयपस्पिण्डम् । दारुपिण्डमन्तःस्थैर्युक्तम् । यमान्तःस्थवर्जं तूर्णापिण्डमिति ॥

अन्तःस्थयमसयोगे विशेषो नोपलभ्यते ।

"अशरीरं यमं विद्यादन्तःस्थः पिण्डनायकः" इति

अशरीरत्व पूर्वस्पर्शशरीरान्तःप्रविष्टत्वम्, अत एव च पूर्वस्पर्शयमयोर्म्मध्ये विच्छेदो नोपलभ्यते ॥ तस्मात् पार्थक्येनाप्रतीतिरिति वोध्यम् ॥ इति प्रासङ्गिको यमविचारः ॥*॥

इति मधुसूदन--विद्यावाचस्पति--प्रणीते
पथ्यास्वस्तिग्रन्थे यमपरिष्कारो द्वितीयः प्रपाठः
समाप्तः ॥२॥

—

तृतीये गुणानुवाके सप्तमखण्डे वाक्चातुर्विध्यखण्डः प्रथमः ॥१॥

॥ अथ गुणपरिष्कारस्तृतीयः प्रपाठः ॥

धर्म्मादभ्युदयः सदाऽभ्युदयते धर्मस्तु साहित्यतो
विज्ञेयोऽप्यविनाकृतं तदपि वा वाक्यैश्च वाक्यं पुनः ॥
संपद्येत पदैः पदं पुनरिदं वर्णैः कृतं वर्ण्यते
ते वर्णाश्च गुणैः कृता इति गुणान् वर्णाहितान् ब्रूमहे ॥११

(१) येयं वाग्वदति सा चतुर्विधा विज्ञायते । तथाच श्रूयते—
"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः" ॥
"गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति"॥१इति॥

वाचा परिच्छिन्नानि तावच्चत्वारि स्थानानि भवन्ति—वाचस्पत्यं, ब्राह्मणस्पत्यमैन्द्रं भौमं चेति । स्थानभेदाद्वाचश्चतुर्विधा उपपद्यन्ते-वेकुरा, सुब्रह्मण्या, गौरिवीता, आम्भृणी चेति । स्वायम्भुवमण्डले परमाकाशे वेकुरा वाक् ॥१॥ पारमेष्ठ्यमण्डले महासमुद्रे सुब्रह्मण्या वाक् ॥२॥ सौरमण्डले महाब्रह्माण्डे गौरिवीता वाक्॥३॥ पार्थिवमण्डले भौमाण्डे चान्द्रमण्डलोपेते सोममयी आम्भृणी वाक् ॥४॥ ता एता वाचस्तत्तल्लोकस्थितानां सर्वेषां भावानामुपादानभूता इष्यन्ते । तत्रेथमाम्भृणी वागस्यां भूमौ सर्वत्राभिव्याप्ता । तामेव वाचमिमे मनुष्या उपजीवन्ति । इतरास्तु तिस्रो वाचो गुहायां निहिताः । तदुक्तमृषिणा—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ॥
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः"॥इति॥

ऋक्सामयजुरात्मिका वैदिकी ह्येयं वाक् सर्वेषामाविरेव सती गुहायां निहिता न सम्यक्तया परिज्ञायते इत्यर्थः । ता ह्येताश्चतस्रो वाचो ब्रह्मविज्ञाने सुविशदं व्याख्याता द्रष्टव्याः ॥१॥ अपि चान्यथा ब्रूमः—

(२) वाजस्य हि प्रसवो वागियं श्रूयते । यथोक्तं मैत्रायणीयश्रुतौ—

"वाग्घि वाजस्य प्रसवः। सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि। पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां, साग्नौ, सा रथन्तरे ॥१॥ यान्तरिक्षे, सा वाते, सा वामदेव्ये ॥२॥ या दिवि सा बृहति, सा स्तनयित्नौ ॥३॥ अथ पशुषु ॥४॥ ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः। तस्माद्—ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति—यश्च वेद, यश्च न। या बृहद्रथन्तरयोः—यज्ञादेनं (वाजं) तया गच्छति ॥ या पशुषु तया ऋते यज्ञम् ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमं राजानमोषधीष्वप्सु ॥
स विराजं पर्य्येतु प्रजानन् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे ॥१॥
वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवं स ओषधीः समनक्तु घृतेन ॥
वाजस्येदं प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ॥२॥

तैत्ति. ब्रा. १।१।४-५) इति ॥

अत्रेयं त्रिलोकीवाग् गुहानिहितेव नेङ्गयते, पशुवागियमनुभूयते इति विद्यात् ॥२॥ अपि चान्यथा ब्रूमः—

(३) अमृता, दिव्या, वायव्या, ऐन्द्री चेति सा चतुर्धा वाक्। तत्र मनःप्राणगर्भिता सत्या वागमृता। वेदा हि ऋक्सामयजूंष्यमृता वाक्। ततः सर्वमिदं प्रजायते, तत्र प्रतितिष्ठन्ति, तत्र संतिष्ठन्ते। सेयं वागाकाशो नाम। अग्निरस्या ब्रह्म। अग्निरस्या उपनिषत्। तस्मादियमाग्नेयी। सेयं मन्त्रे श्रूयते—

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ॥
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥१॥(१।१६४।४१)

अथ दिव्या वागृता, सोऽथर्ववेदः। तन्मयान्येवैतानि सर्वाणि दैवतानि भूतानि चोत्पद्यन्ते—

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता ॥
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥ ॥ (१९।९।३)

इत्यथर्वसंहितोक्तेः॥

सेयं वाक् सरस्वान्नाम। दिक्सोमोऽस्या ब्रह्म। दिक्सोमोऽस्या उपनिषत्। तस्मादियं सौम्या। सेयमपि श्रूयते—

"तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति ॥२॥ (१।१६४।४२)
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ॥
सा नो जुषाणो यज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु ॥इति॥

अनयोर्ध्वनिर्नास्ति। तस्मान्नैते श्रोत्रेण गृह्येते। ध्वनिः शब्दः। ध्वन्यभावात्तु नैते वाचौ शब्दौ भवतः।

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।" इति मनुस्मृतिवाक्ये शब्दपदमौपचारिकं बोध्यम्। अशब्दात्मिकाया एव त्वमृताया वेदवाचः सृष्टिहेतुत्वसिद्धान्तात् ॥

श्रोत्रग्राह्यो ध्वनिर्द्विविधः। शक्त्यभावादनर्थकः प्रथमः। वर्णपदवाक्यादिविभाजितः सार्थको द्वितीयः। उक्तं च—

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ॥
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥१॥इति

तत्रानर्थिकाया वाचो वायुर्ब्रह्म। वायुरुपनिषत्। तस्मादियं वायव्या। गतिविहीनापीयं वाग् वाय्वारब्धा वायुप्रतिष्ठा वायुनैवेतस्ततो नीयते। नादश्वासादयश्च तस्यां विशेषा वायुनैवोपपद्यन्ते। सेयं सरस्वती नाम तृतीया वाक् विश्वोपजीवनी भवति। सापि प्रथमाद्वितीयावदव्याकृतैवासीत्। अर्थनिबन्धनस्य वर्णादिविभागस्य तत्रादृष्टत्वात्। तस्यां चेन्द्रोऽनुप्रविश्य विभक्तिभिस्तां विविधैराकारैर्व्याकरोति तेनेयमैन्द्री व्याकृता वाग् भवति। तथाच श्रूयते—

"वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत् तद् देवा इन्द्रमब्रुवन्—इमां नो वाचं व्याकुरु इति। सोऽब्रवीद्-वरं वृणै—मह्यं चैवैष वायवे च

सह गृह्यात इति । तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत् । तस्यादियं व्याकृता वागुद्यते" इति ।
सोऽयमर्थो मन्त्रसंहितायामप्याम्नायते—

"बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् ॥
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा" ॥
(१० । १२४ । ९) इति ।

एष मन्त्रोऽक्षरप्रकरणे व्याख्यास्यते । सा हीन्द्रेण व्याकृतैवेयं वागुपयुज्यते सर्वेभ्यो व्यवहारेभ्यो वैदिकेभ्यश्च लौकिकेभ्यश्च । तथा च श्रूयते मन्त्रः—

"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ॥
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥१॥

इत्थं चैताश्चतुर्विधा वाचो व्याख्याताः । तत्रैताः पूर्वास्तिस्रोऽर्थविज्ञानाननुकूलत्वाद् गुहा निहिता नेङ्गयन्ति न कंचिदर्थं संकेतयन्ति ॥ अथ यां पुनरिमां वाचं मनुष्या ब्रुवते; यस्यां वाच्यकारककारादयो वर्णाः व्याकृताः संविभक्ताः प्रज्ञाता दृश्यन्ते । सेयं चतुर्थी व्याकृता वागैन्द्री नाम प्रतिपत्तव्या । इन्द्रः प्रज्ञाप्राणः । प्रज्ञानयोगात्तु वाचो विभज्यमाना वर्णा भवन्ति । अ उ इति मनःप्राणयोः संज्ञे वैज्ञानिकानाम् । तत्र मनः प्रज्ञानमृणः प्राप्तो ध्वनिरर्णः । अपि वा प्राणं च प्रज्ञानं चागतो ध्वनिर्वर्णः ॥ वर्णा एवामी अर्णा इत्युच्यन्ते । प्रज्ञाप्राणयोर्नान्तरीयकतया प्रज्ञयैव प्राणस्यापि संग्रहीतुं शक्यत्वात् ॥ यास्तु वाचोऽनाहतनादे(१), याश्च वाचो वाय्वग्निजलपार्थिवानाम्(२), या वा वाचः पशुपक्षिसरीसृपाणाम्(३)। या वा वाचः सद्योजाताशिक्षितशिशुरोदनादिषु ताः सर्वा इन्द्रेण अव्याकृतत्वादनिरुक्ताः केवलवायव्या इष्यन्ते ॥ मनुष्याणामेव तु वागर्थगर्भितत्वान्निरुक्तं प्रज्ञातमुच्यते । तस्मादयमैन्द्रवायवो ग्रहो भवति ॥४॥

(४) सेयमैन्द्री वागध्यात्मं चतुर्धा विधीयते । तथा च मन्त्रः श्रूयते—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।१।।इति

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इत्येता हि ता अध्यात्मं चतुर्धा वाचः ।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।१।।

इत्याप्तोक्तेर्बुद्धिस्था वाक् परा । मनसा ग्रन्थाक्षरानाकलयतामुपांशु वाक् पश्यन्ती । विनैव नादध्वनिं श्वासमात्रेण कर्णमनुच्चार्यमाणा वाग् मध्यमा ।

नादध्वनिशालिनी दूरतोऽपि श्रोत्रग्राह्या वैखरी ।। तासु परापश्यन्तीमध्यमाः प्रच्छन्ना न विशिष्यावगम्यन्ते ।। वैखरीं तु मनुष्या ब्रुवते । उक्तं चाभियुक्तैः—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा ।।
द्योतितार्था तु पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ।।१।। इति ।।४।।

(५) सेयं वैखरी पुनरध्यात्मं चतुर्धा विधीयते तथा च श्रूयते—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदंति ।।१।।इति

तमेतं मन्त्रं वाजसनेयश्रुतिरित्थं व्याचष्टे—

"इन्द्रो ह वा ईक्षांचक्रे-'वायुर्वनोऽस्य यज्ञस्य भूयिष्ठभाग् । हन्तास्मिन्नपि त्वमिच्छा" इति । स होवाच वायवा मास्मिन् ग्रहे भजेति । किं ततः स्यादिति । निरुक्तमेव वाग् वदेदिति । निरुक्तं चेद् वाग् वदेत् आ त्वा भजामीति । तत एष ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽभवत् ।

तदेतत् तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति । अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत् पशवो वदन्ति। अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयांसि वदन्ति। अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं वदति ॥ इति ।

न केवलमध्यात्मं, किन्तु यदधिभूतं, यदधिदैवतं वा वाक् तत्राप्येते चत्वारो विभागा द्रष्टव्याः । परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति ॥

(६) सेयं या वैखरी वाग् मनुष्येण व्याह्रियते तत्रापीयं श्रुतिर्भवति

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥१॥इति।

प्राण स्वरः, वर्णः, ध्वनिः—इत्येवं तावमनुष्यवाचश्चत्वारि पदानि । तथा हि—

आत्मा बुद्धया समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ॥
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
सोदीर्णो मूर्द्धन्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥

इति शिक्षास्मृत्युक्तमार्गेण नाभ्युत्थितो वायुः स्वरात्मतासिद्धेः प्राक् प्राणो नामाभिसंधेयः । अथ स एवैतन्मुखागमनात् प्राक् उरःकण्ठशिरःस्थानः स्वरः । स पुनः पञ्चरूपैः पञ्चाशद्रूपैश्चतुःषष्टिरूपैरपि वा व्याक्रियमाणो वर्णः। स पुनः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाख्यैः सप्तभिः स्वरैर्विभेदितः श्रुत्या गृहीतो ध्वनिर्नाम जायते। तत्र प्राणोऽयमेकस्तरमात्रा वाक् । अथान्यवाक्स्तरयोगाद् द्विस्तरा स्वरवाक् । तत्रान्यवाक्स्तरयोगात् त्रिस्तरा वर्णवाक् । तत्र पुनरन्यवाक्स्तरयोगाच्चतुस्तरा ध्वनिवाक् । नानपेक्ष्य पूर्वामुत्तरारूपं धत्ते ॥

अत्राहा शङ्करो भाष्यकारः। कः पुनरयं ध्वनिर्नाम । यो दूरादाक-

र्णायतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति। प्रत्यासीदतश्च मन्दत्वपटुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः। वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् ॥१॥

अथैते वर्णा ध्वनिसहकारेण च कृतरूपा भवन्ति ध्वनिमन्तरेण च। यौ तावत् कर्णौ प्रत्यासीदन्तौ रहस्यमुपजल्पतस्तयोर्भाषायां वर्णा उपांशुकृतत्वाद् ध्वनिविनाकृता अपि लक्ष्यन्ते। उच्चैःकृतायामेव ध्वनेः संचारात् ॥२॥

अथ यदाहुः—"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवतीति"(ऐ. ब्रा· · ·) तत्रेयं स्पर्शोष्मयोगप्रतियोगिनी वाक् स्वरो नाम। एष एव स्वरो लघुत्वगुरुत्वाभ्यां द्वेधा प्रतिपद्यमानोऽक्षरो नाम कथ्यते ॥३॥

अथ यं पुनरेते शाब्दिकाः स्फोटं प्रतिपद्यन्ते स प्राणो वर्णानां मूलाधारो द्रष्टव्यः। तदवच्छेदादिमे वर्णाः परस्परतो नोपसृज्यन्ते ॥४॥

अथ पुनर्देवताभिश्चैता वाचो विभक्ता द्रष्टव्याः। ध्वनिरयमग्नीषोमीया वागाग्नेयी गायत्रीछन्दा इष्यते। वर्णात्मिका तु वाग् वायव्या अनुष्टुप्छंदा भवति। **"वाचमष्टापदीमहमिति श्रुतेः" ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप्** इति श्रुतेश्च"—॥अष्टौ हि बिन्दवस्तस्या व्याप्तिस्थानमित्यनुष्टुप्त्वमुपपद्यते। या पुनः स्वरवाक् तामैन्द्रीं बृहतीछन्दसमाहुः। **"वागिन्द्र"** इति हि श्रुतिरेतामेवैन्द्रीं वाचमभिप्रैति। इयमेवेन्द्रपत्नीति श्रूयते। तस्या नव बिन्दवो व्याप्तिस्थानमिति बृहतीछन्दस्त्वमाहुः॥ प्राणस्त्वयं स्फोटोऽव्ययभक्तिर्वाक्। स हि कोशः सर्वासां वाचामिष्यते। तदित्थमेषा चतुष्टयी वाक् संहितोपचर्य्यते। तस्यास्तुरीयमेव पदमेतं ध्वनिमद्धा शृण्वन्ति ॥

अथैषा चतुष्टयी वाक् पुनरन्यथा चातुर्विध्यं भजते। तद्यथा वर्णः, अक्षरं, पदं, वाक्यम्—इति हि मनुष्यवाचश्चत्वारो विभागा भवन्ति।

इदमेवैतस्या वाचश्चातुर्विध्यमिन्द्रेण कृतं व्याकरणमाख्यायते। तत्र वाक्यानि पदैः, पदान्यक्षरैः, अक्षराणि वर्णैः कृतरूपाणि भवन्तीत्यतस्तानि वर्णाक्षरपदानि त्रीण्यन्तरतः प्रवेशक्रमाद् गुहानिहितानि न स्वातन्त्र्येण शाब्दबोधं जनयन्ति। वाक्यस्यैवार्थबोधने सामर्थ्यलाभात्। तस्मादर्थं प्रत्याययितुं वाक्यानि मनुष्या ब्रुवते ॥६॥

(७) अथ वर्णोऽक्षरं, पदं, वाक्यमित्येतेषामपि चतुर्णां प्रत्येकस्य पुनश्चातुर्विध्यमिच्छन्ति। तत्र तावद्वर्णश्चतुर्धा—अस्पृष्टः, ईषत्स्पृष्टः, स्पृष्टः, अर्द्धस्पृष्ट इति भेदात् ॥१॥ अक्षरं चतुर्धा पूर्वापरोभयविधव्यापारशून्यं प्रथमम्—अ इति॥ पृष्ठव्यापार-विशिष्टं, पुरतो व्यापारशून्यं द्वितीयम्—स्म इति॥ पृष्ठव्यापार-शून्यं, पुरतो व्यापारविशिष्टं तृतीयम्—ऊर्क्—इति॥ उभयतो व्यापारविशिष्टं चतुर्थम्—वागिति ॥२॥

अथ पदं चतुर्धा नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदादिति भगवान् पतञ्जलिः॥ परे त्वाहुः। नोपसर्गः पृथक् पदम्। उपसर्गविशिष्ट-स्याख्यातत्वात्, तस्य तत्रैवान्तर्भावात्। येषु तु—"**इन्द्रो देवान् प्रतिप्रतिः।" "अतीनि ह कर्म्माणि सन्ति। यान्यन्यत् कर्म्माणि, तान्यतीनि" इदानीनि, एतर्हीणि** ॥ इत्यादिषु विभक्तयः प्रयुक्ता दृश्यन्ते तेषां नामत्वमेवोपपद्यते॥

तस्मान्नामाख्यातनिपातेभ्योऽतिरिक्तानां विभक्त्यर्थगर्भितत्वाद् विभक्त्ययोग्यानां स्वरादिशब्दानां चतुर्थत्वं द्रष्टव्यम्। नैतानि नामानि। विभक्त्यर्थागर्भिततया विभक्तियोगिनामेव नामत्वेन विवक्षितत्वात् ॥३॥ अथार्थवैशिष्ट्यात् प्रज्ञानोपपन्ना वाग् वाक्यम्॥ तच्चतुर्धा—नाभिस्थानं, प्रक्रमत्रयस्थानं, मुखप्रदेशपञ्चकस्थानं, श्रोत्रस्थानं चेति॥ प्रज्ञानप्रेरिता सती नाभेरारभ्य परश्रोत्रमागता परस्मै प्रज्ञानं जनयतीति चतुर्षु पदेषूपस्थाय विलीयते॥ ॥

(९) वाग्दमनेदं महदुक्थप्रकारेण पुनश्चतुष्पदमैतरेयारण्यके श्रूयते। मितममितं स्वरः सत्यानृते इति। ऋग् गाथा कुम्ब्या तन्मितम् ॥१॥ यजुर्निगदो वृथा वाक् तदमितम् ॥२॥ सामाथो यः कश्च गेष्णः स स्वरः ॥३॥ ओमिति सत्य नेत्यनृतम्" इति ॥४॥ सत्यानृतयोः पृथक्त्वाभिप्रायेण पञ्चविधत्वमपीच्छन्ति ॥५॥

यत्तु यास्कनिरुक्ते—"तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च मनुष्याणाम्"—(१३।१) इति वाचो द्वैविध्यमाख्यातं तद्वेदभाषा-संस्कृतभाषाभेदाभिप्रायं द्रष्टव्यम्। छन्दोभाषायाः स्वर्गभाषात्वसिद्धान्तात् ॥

एषां च वाक्यानां पदानामक्षराणां च वर्णा एवारम्भकाः सन्तीति सर्वमूलत्वादादौ वर्णाः शिक्षयितव्याः॥ ते च वर्णाः सप्तनवतिविधाश्छन्दोभाषायां दृश्यन्ते—इत्येतेषामेष समाम्नायस्तावत् प्रदर्शितः॥

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

(१)

अथ ब्रूमः। अक्षराणामकारोऽस्मीति स्मरणादकार एवैको वर्णः सर्वेषामेषां वर्णानां प्रतिपत्। अकारादेवैकस्मादक्षरादयमेतावान् वर्णसमाम्नायोऽन्यान्यगुणयोगेनोत्पद्यते। तथा चाह भगवानैतरेयः—

"यो वै तां वाचं वेद यस्या एष विकारः स संप्रतिवित् ॥
अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी
नानारूपा भवति ॥ (ऐ० आ० २।३।६) इति ॥

अत्र श्रुतौ स्पर्शोष्मशब्दौ स्थानकरणयोरन्योन्यं सन्निकर्षतारतम्यं विप्रकर्षतारतम्यं च यथायथं लक्षयतः। ते च स्थानकरणे द्विविधे बहिरङ्गे चान्तरङ्गे च। मुखप्रवेशात् प्राग्भाविनी बहिरङ्गे।

तत्र स्थानं प्रक्रमशब्देन, करणप्रयत्नस्त्वनुप्रदानशब्देनाख्यायते । मुखाभ्यन्तरतस्तु ते अन्तरङ्गे भवतः । उभयत्र प्रयत्नविशेषात् स्थानकरणयोराकुञ्चनसंप्रसारणे वर्णस्वरूपविशेषोत्पत्तये भवतः ॥ अथ स्पर्शोष्मशब्देन स्वरद्वयसंश्लेषविश्लेषावपि लक्ष्येते । तेन स्वराणां विश्लिष्टोच्चारणे एकमात्राकालः । संश्लिष्टोच्चारणे तु द्विमात्रस्त्रिमात्रो वा कालः ॥

स्वराणामवयवसंकोचेन घनीभावे व्यञ्जनत्वोपपत्तिः । तत्रैतेषामर्द्धमात्रा कालः । तदित्थं पञ्चैते गुणा एकस्याकारस्यानेकाकारतासंपादकतया वर्णसमाम्नायोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । तानेवैतान् पञ्चगुणानुपदर्शयितुमेतं वर्णसमाम्नायं प्रक्रमस्थानतः; कालतः, करणप्रयत्नतः अनुप्रदानप्रयत्नतश्च व्याख्यास्यामः ॥

——

तत्रादौ प्रक्रमस्थानतो वर्णभेदः प्रदर्श्यते ॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।१।१६४।४५

इति भगवान् वेदमहर्षिः प्राह । तथाहि—**प्राणवायुर्वाग्भावाय प्रक्रममाणश्चत्वारि प्रक्रमपदान्यपेक्षते । नाभिम्, उरः, शिरः,आस्यंचे ति । नाभिर्हि प्राणवायोः प्रथमं पदम् । ततः प्रक्रम्य स उरसि, कण्ठे, शिरसि वा प्रत्याहन्यमानः** प्रथमं प्रक्रमं समाप्नोति । उरसि कण्ठे वा प्रथमप्रक्रमपूर्तौ ततः प्रक्रम्य शिरसि प्रत्याहन्यमानो द्वितीयं समाप्नोति । शिरःपदात्प्रक्रम्य स मुखे स्थानेष्वाहन्यमानस्तृतीयं समाप्नोति । आस्यपदात् पुनश्चतुर्थे प्रक्रमे वर्णभावेन परिणममानो मुखान्निःसरति ॥

तथा चाह भगवान् पाणिनिः—

आत्मा बुद्धया समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
कण्ठे तु मध्यमं शीर्ष्णि तारं जनयति स्वरम् ॥२॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहितो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥३॥
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः ।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत ॥४॥(इति)

तत्र नाभ्युरःशिरांसि त्रीणि पदानि गुहायां निहितानि नाद्धा प्रतीयन्ते । मुखं तु वर्णानामुच्चारणायोपयुक्तं भाति । (१) नाभौ प्राणस्य वायुभावः । (२) उरसि वायोः स्वरभावः । (३) शिरसि स्वरस्य ध्वनिभावः । (४) अथ मुखे ध्वनेर्वर्णभावः । तेनादितस्त्रिषु पदेषु वाचः प्राग्रूपस्य प्राणवायोर्नास्ति वर्णत्वेनाभिव्यक्तिः । तुरीये त्वेव पदे वाचोऽद्धाभिव्यक्तिरिति प्रतीतिगम्योऽर्थः श्रुत्याभिधीयते।

प्रथमं प्रक्रमसंस्थानानामुरः, कण्ठः, शिर इत्येवं त्रैविध्यमाख्यातम् । तच्चेदं बलतारतम्यादुपपद्यते । उच्चिचारयिषया [illegible]क्तः प्राणवायुः कनीयसा बलेन प्रक्रममाणः सन्नुरसि, संप्रतिबलेन [illegible], भूयसा तु बलेन शिरसि पतन् प्रक्रमं समाप्नोति । तेन यत्र शिरस्येव [illegible]स्य प्रथमप्रक्रमपूर्तिस्तत्र त्रीण्येव प्रक्रमपदान्युपपद्यन्ते—इत्यन्यत् । आस्याद् बाह्यानाममीषां प्रक्रमस्थानानां सवनत्वमाह नारदः—

उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये ॥
सवनान्याहुरेतानि साम्नि चाप्यधरोत्तरे ॥१॥इति

एभिरेव त्रिभिः सवनैस्त्रैस्वर्यमुपपद्यते। तथाहि—नाभेरभ्युत्थितो वायुः करणभूतो यद्युरःस्थाने निपत्योत्पतितः क्रमेण मुखमागत्य वर्णभावे परिणमते तर्हि तस्यैष प्रक्रमः प्रातः सवनम् । तत्रैष मन्द्रः स्वरः संपद्यते । स औरस्योऽनुदात्तः ॥१॥ यदि तु कण्ठे निपत्योत्पतितो मुखमागतः स्यात् तर्हि मध्यन्दिनसवनम् । स मध्यमः स्वरः । स कर्णमूलीयः स्वरितः ॥२॥ यदि वा शिरोऽन्त एवास्य प्रथमः प्रक्रमः स्यात्

तर्हि तृतीयसवनम् ॥३॥ स तारस्वरः । स शार्ङ्ग्युदात्तः । प्रातर्मन्द्रया वाचा प्रक्रमेत, मध्यन्दिने मध्यमया । तृतीयसवने तारयेत्याह भगवानैतरेयः ।

यदा वा एष प्रातरुदेति—अथ मन्द्रं तपति ।
तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रातः सवने शंसेत् ॥१॥
अथ यदाऽभ्येति—अथ बलीयस्तपति ।
तस्माद् बलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शंसेत् ॥२॥
अथ यदाऽभितरामेति—अथ बलिष्ठतमं तपति ।
तस्माद् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शंसेत् ॥३॥
यदि वाच ईशीत । वाग्घि शस्त्रम् । यया तु वाचोत्तरोत्तरिण्योत्सहेत—समापनाय, तया प्रपद्येत । एतत् सुशस्ततममिव भवति ॥ इति (ऐ.ब्रा. १४. प्र. ४४ कं.)

पाणिनिरप्याह—

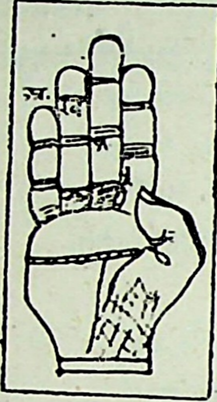
प्रातः पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ॥
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैवं चक्राह्वसंकूजितसंनिभेन ॥१॥
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ॥
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥२॥(इति)

विरुद्धसवनेनोच्चारयितृणामनुदात्तप्रायतायामुरःक्षताच्छोणितोद्गारः स्वरितप्रायतायां स्वरभङ्गः, उदात्तप्रायतायां तु मूर्च्छापत्तिः ।

अथ यथासवनं यथापदं च सर्वस्वरोच्चावचभावक्रमेणोच्चारणप्रक्रमे तदुच्चारणसौष्ठवं प्रतिभाति । प्रक्रमभेदात् त्रिस्वरभेदः । त्रिस्वरभेदाच्चायमकारोऽन्ये च स्वरास्त्रेधा भिद्यन्ते ।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः । इति ॥

परे तु प्रचयमप्यधिकमिच्छन्ति—



"अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः ॥
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥१॥
उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम् ॥
कनिष्ठां निहतं विद्यात् स्वरितं चाप्यनामिकाम् ॥२॥

(इति पाणिन्युक्तेः)

उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा ॥
उपान्त्यमध्ये स्वरितं धृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥१॥

इत्यत्र प्रचयानुल्लेखेऽपि वाक्यान्तरतो मध्यमायां तन्निर्देशलाभात् ॥

(२) उच्चैस्तरां वा वषट्कार इत्यादिषूपदिष्टोऽयमुदात्ततरोऽप्यन्यः स्वरः। एवं (३) सन्नतरोऽप्यन्यः स्वरः। उदात्ततरवदनुदात्ततरस्यापीष्टत्वात् ॥

अत एवाह भगवान्नारदः—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा ॥
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चधा ॥१॥इति

एकश्रुतिश्चान्यः स्वरः।

"एकश्रुति दूरात् संबुद्धौ" "यज्ञकर्म्मण्यजपं न्यूंङ्खसामसु"

इत्यादिषु त्रैस्वर्य्यापवादेनैकश्रुतेर्विधानात्। वस्तुतस्तु नैते स्वरास्त्रैस्वर्याद्भिद्यन्ते। तथाहि—उदात्तस्यैव तारतम्येनोच्चारणात् त्रैविध्यमुपपद्यते। उदात्ततरमुदात्तं प्रचितं चेति। तेन स्वरसूक्ष्मत्वप्रदर्शनानुरोधात् त्रैविध्योपपत्तावपि—उदात्ततरप्रचितयोरुदात्तत्वं नोपहन्यते। तथा चाह भगवान्नारदः—

य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात् परः ॥
प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्नचात्रान्यत् स्वरान्तरम् ॥१॥

उदात्तस्वरितयोर्मध्यवर्तितया प्रचितस्य यथोदात्तत्वं केचिदिच्छन्ति। तथैवान्ये प्रचितस्य तस्य स्वरितेऽन्तर्भावं मन्यन्ते।

यथोक्तं याज्ञवल्क्येन—

उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वर उच्यते।

ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेषां मिथोऽद्भुतः १॥ ॥इति।

एकश्रुतिस्तु त्रैस्वर्य्यव्यवस्थापवादो न त्रैस्वर्य्यापवादः। त्रैस्वर्य्यापवादे नैकस्याप्यक्षरस्योच्चारयितुमशक्यत्वात्। तस्मात् त्रय एव स्वराः प्रतिपत्तव्याः॥ ये तु साममन्त्रे सप्तस्वरा आख्यायन्ते—षड्जः ऋषभः गान्धारः मध्यमः पञ्चमः धैवतः निषादः इति। तेऽपि न त्रैस्वर्य्यादतिरिच्यन्ते।

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।

स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥१॥

इति पाणिन्यादिभिस्त्रैस्वर्य्ये तदन्तर्भावोक्तेः।

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः।

त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः ॥१॥

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।

शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥२॥

इति याज्ञवल्क्यादिभिरभेदाभ्युपगमाच्च। वस्तुतस्तूदात्तादयः प्रक्रमोच्चत्वनीचत्वादिनिबन्धना भेदा इष्यन्ते। षड्जादयस्तु स्वरा ध्वनिरागभेदनिबन्धना इति भेदः। तथा चाह नारदः—

षड्जं वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम्।

अजाविके तु गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम् ॥१॥

पुष्पसाधारणे काले कोकिला वक्ति पञ्चमम् ।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः ॥२॥

एषामुच्चारणोपयुक्तस्थानानि नारदशिक्षायां विशिष्य द्रष्टव्यानि । एषां च सप्तस्वरभेदानां गानोपयोगित्वात् साधारणोच्चारणे विशेषतोऽनुपयोगादिह परित्यागः । सर्वसाधारण्येन तु त्रय एव स्वराः सिद्धास्तेषां त्रयाणां लिपिभेदाभावेऽपि अनुदात्तस्याधस्तात्तिरश्चीनरेखया (अ॒) स्वरितस्योपरिष्टात्तिरश्चीनरेखया (अ̄) उदात्तस्योपरिष्टाद्दण्डरेखया (अ॑) प्रचयस्य तु स्वरितोदात्तयोगरेखया (अ̄॑) लिप्यनुगमः क्रियते, तदित्थं स्वराणां त्रैविध्यमनुभवगम्यं वायुप्रक्रमभेदादुन्नेयम् ॥२॥

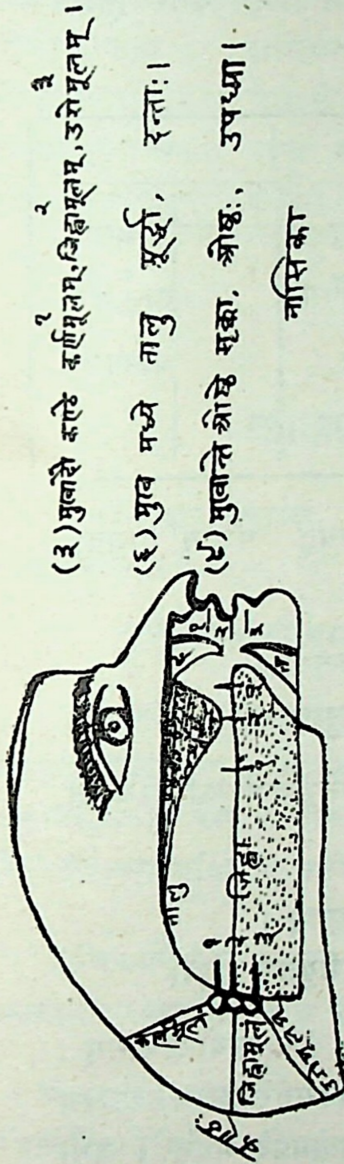
अ.	स्व.	उ.	प्र.
अ॒	अ̄	अ॑	अ̄॑

इति द्वितीयः खण्डः ॥२॥

मुख्यस्थानतो वर्णभेदः ॥२॥

"**संयोगविभागशब्देभ्यः शब्दः**"—इति भगवान् कणादः प्राह । तत्र संयोगे यः स्थायीभावः स प्रतियोगी तत्स्थानम् । यः संचारीभावः सोऽनुयोगी तत्करणम् । ते च स्थानकरणे द्विविधे बाह्ये आभ्यन्तरे च । वायोः प्रक्रमे मुखागमनात् प्राग्भाविनी बाह्ये । मुखप्रदेशान्तर्गते त्वाभ्यन्तरे । तत्र बाह्यं स्थानमुरः कण्ठः शिर इति त्रिविधं व्याख्यातम् ।

अथ मुखे कण्ठतालुमूर्द्धदन्तोष्ठभेदात्पञ्च स्थानानि । कण्ठो जिह्वामूलम् । मुखे दन्तोलूखलस्थानादभ्यन्तरतो दिशि योऽवनतो भागस्तस्य पूर्वपार्श्वं तालुमूलस्थानम् । तस्यैव पश्चिमपार्श्वं तालुन एव मूर्द्धस्थानम् । ततोऽत्यासन्नः पश्चिमो भागो दन्तमूलस्थानम् । उत्तरोष्ठमोष्ठस्थानम् । एष्वेव पञ्चसु स्थानेषु क्रमेण जिह्वासम्बन्धिनां मूलमध्योपाग्राग्रभागानामधरोष्ठसहितानां करणाख्यानां संयोगतारतम्यात् सर्वे वर्णा उत्पद्यन्ते ।



वायुर्यया मात्रया येन प्रक्रमेण प्रक्रान्तः कण्ठस्थाने वर्णो भवन्नकारतामापद्यते, तयैव मात्रया तेनैव प्रक्रमेण प्रक्रान्तस्तालुस्थाने उप-नमितः स इकारतामापद्यते । मूर्द्धनि ऋकारतां, दन्तमूले लृकारतामोष्ठे तूकारतामिति विद्यात् । समानस्यैव प्राणद्रव्यस्य स्थानभेदनिबन्धनाः-अ.इ.ऋ.लृ.उ. इति स्वरूपभेदाः सम्भवन्ति । तथा चैकस्याकारस्य स्थानभेदात् पाञ्चविध्यमिदमुन्नेयम् । तत्र च प्रक्रमभेदभिन्नानामुदात्तस्वरितानुदात्तानामविशेषेण कण्ठादिस्थानसंबन्धो दृश्यते । तेनैतेषां पञ्चैव स्थानानि सिध्यन्ति ।



केचित्तु—कृकाटिका, जिह्वामूलम्, कर्णमूलमिति मुखादौ कण्ठे त्रयोभागास्त्रीणि स्थानानि । मुखमध्ये—तालु मूर्द्धा दन्तमूलमिति त्रीणि स्थानानि । मुखान्ते पुनः—सृक्का उपध्मा ओष्ठं चेति त्रीणि स्थानानि ।

सर्वमुखानुगता नासानाडी तु नासिका स्थानमिति । एवं दशस्थानानि वर्णानामाभ्यन्तराणि मन्यन्ते ॥

	१	२	३		
३	मुखस्याद्ये भागे-उरोमूलम्	जिह्वामूलम्	कर्णमूलम्	स्थानानि	१ कण्ठः
३	मुखस्य मध्ये भागे-तालुमूलम्	मूर्द्धा	दन्तमूलम्	,,	२ ३ ४ तालु.मू.द.
३	मुखस्यान्त्येभागे सृक्का	उपध्मा	ओष्ठम्	,,	५ ओष्ठम्॥
१	मुखस्य सर्वेषु भागेषु-नासिका	नासिका	नासिका	,,	

एषु सृक्कोपध्मयोरोष्ठोपपदयोरोष्ठेनैवोपसंग्रहं पश्यन् भगवान् पाणिनिस्त्वाह—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥१॥ इति ।

तत्र निरुक्तेभ्यः कण्ठतालुशिरोदन्तोष्ठस्थानेभ्यस्त्रीण्यतिरिच्यन्ते, उरो जिह्वामूलं नासिका चेति । तत्र—

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥१॥

इत्युक्तरीत्या—ह्ल·ह्न·ह्म·ह्य·ह्र·ह्ल·ह्व षु हकारस्योरस्थानम् । ᳵक ᳵख इति ककारात् खकाराद्वा प्रागुच्चरितस्यार्द्धविसर्गसदृशस्य हकारस्य जिह्वामूलं स्थानम् । ते उभे अधरोत्तरे कण्ठस्योपपदे भवतः । तथा चैकस्यैव कण्ठस्यावान्तरप्रदेशभेदविवक्षया कृकाटिकामूल-जिह्वामूल-कर्णमूलभेदैस्त्रैविध्येनोपपत्तिरिति कण्ठेनैव तयोरप्युपसंग्रहणात् पञ्चैव स्थानानि निष्कृष्यन्ते । नासिकाया अपि कण्ठेन तालुमूर्द्धदन्तैरोष्ठेन च सहोपेतत्वात् पञ्चानामपि मुखस्थानानामुपपदतया पञ्चस्वेव तेषु स्थानेष्वन्तर्भावोपगमात् । तथाचेत्थं पृथक्त्वेनोपगमे दश स्थानानि,

संक्षेपतस्तु पञ्चस्थानानोत्येवं विवक्षानुरोधान्न्यूनाधिकोपदेशानामविरोधो द्रष्टव्यः । नासिकायाश्चेतरैः पञ्चभिः स्थानैरविरोधान्मुखनासिकाभ्यामुच्चरिताः पञ्चान्ये स्वरा उपपद्यन्ते अँ.इँ.ऋँ.ऌँ.उँ इति । त इमेऽनुनासिकाः पञ्च स्वराः । ऋकारे ऌकारे च स्वरभक्तेर्नासिक्यतयाऽनुनासिकत्वम् ॥*॥

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

कालतो वर्णभेदः ॥३॥

अकारोच्चारणकालो मात्रा । "निमेषकालो मात्रा स्याद्" इत्यौदव्रजिः ।

"निमेषकालो मात्रा स्याद् विद्युत्कालेति चापरे" ।

इति नारदः । तस्यास्तारतम्यादितरेषां वर्णानां मात्रा नियम्यन्ते । अकारोऽयमकारेण सन्धीयमानः परतो योगाद् द्विमात्रो दीर्घो भवति । अकारोऽयमाकारेण संधीयमानः स्वभावादभिनिहितो भवति । अन्तर्विलीयमानमभिनिधानं नाभिद्वयैकत्वम् ।

अधिकबले स्वल्पबलस्य विलयनं निसर्गः । तेनैतस्मिन्नाकारे द्विमात्रेऽकारस्य प्रत्यस्तमितत्वाद् द्विमात्रमेवावतिष्ठते न त्रिमात्रत्वम् ।

आकारो यदयकारेण सन्धीयते आकारेण वा तत्रापि नाभिद्वययोगादभिनिहितत्वमिति द्विमात्रत्वमेव, न त्रिमात्रत्वं चतुर्मात्रत्वं वा । परतो योगमन्तरेण चतुर्मात्रत्वासम्भवात् । प्रयत्नविशेषेण परतो योगापेक्षायां तु त्रिमात्रत्वं चतुर्मात्रत्वं वा सम्भाव्यते तस्य प्लुतसंज्ञा । तथा च मात्रातारतम्यादकारस्य त्रैभाव्यमुपपद्यते । अकारः स्वमात्रयोच्चारितो ह्रस्वः । द्विगुणमात्रया दीर्घः । त्रिगुणमात्रया तदधिकमात्रया वा वितानितः स प्लुतः—इति मात्रात्रैविध्यम् ।

एवमिकारादीनामपि स्वराणां ... त्रैविध्यमुन्नेयम् । लृकारस्य तु दीर्घभावो नास्तीति तस्य दीर्घा ...दात्तस्वरितानुदात्ता हीयन्ते । तदित्थं प्रक्रमभेदात् स्थानभेदान्मात्राभेदाच्चायमकारो द्वाचत्वारिंशद्विधो विशुद्धः सम्पद्यते । तावानेव (४२) चानुनासिक इति चतुरशीतिभेदाः स्युः । ६४॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः ॥४

आभ्यन्तरप्रयत्नतो वर्णभेदः ॥४॥

मुखाभ्यन्तरतः पञ्चसु कण्ठतालुमूर्द्धदन्तोष्ठस्थानेषु संयोगाय करणानां यः प्रयत्नः स आभ्यन्तरप्रयत्नः । स द्विविधः स्पृष्टो विवृतश्च ।

येन स्थानेषु करणानां स्पर्शतारतम्यं घटते स स्पृष्टः ।

(१) अ. इ. ऋ. लृ. उ.—इत्यस्पृष्टाः स्वराः ।
(२) ।ऽ. य. र. ल. व.—इतीषत्स्पृष्टा अन्तस्थाः ।
(३) अ. य़ ड़ ळ व—इति दुःस्पृष्टा अन्तस्थाः ।
(४) ग. ज. ड. द. ब.—इति मृदुस्पृष्टाः स्पर्शाः ।

अथ विवरणं संप्रसारणम् । येन स्थानेषु संयोगकाले करणानि तारतम्याद्विव्रियन्ते स विवृतः स्पर्शप्रतिद्वन्द्वी धर्म्मः ।

तेन विवृतप्रयत्ने स्पर्शाभावः । अतएव—अ, इ, ऋ, लृ, उ— इति पूर्णविवृताः स्वराः । अथ यावदेव स्पर्शाय प्रयत्नः क्रियते तावदेवायं विवृतः प्रयत्नोऽपचीयते । स्पर्शतारतम्याद्विवृततारतम्यं घटते इति बोध्यम् ।

अथ सम्प्रसारितस्थानकरणानामेषामेकैकस्य यावती मात्रा भवति सा तत्रार्धेनापचीयते । यत्र विवृतार्द्धप्रयत्नेनैषामाकुञ्चनं क्रियते तेनार्द्ध-मात्रिकाणि व्यञ्जनानि जायन्ते ।

यथा—ऽ य. र. ल. व. इत्यर्द्धविवृता अन्तस्थाः । तत्राऽयं प्रथमो वर्णो विवृतिः । सोऽर्द्धमात्रो वर्णः । अभिनिधान सन्ध्यक्षराण्यु-ष्मान्तस्थगतिश्च तस्य स्थानम् । हरेऽव, विष्णोऽवेत्यभिनिधानस्थानम् । ए. ओ इति सन्ध्यक्षरस्थानम् । इकाराकारयोः सन्धौ यथाऽयमिकारः परयाऽर्द्धमात्रया विहीयते । तेनार्द्धमात्राऽवशेषाद् यकारो व्यञ्जनं भवति तथैवाकारेकारयोः सन्धौ पूर्वोऽयमकारः परयार्द्धमात्रया विहीयते । तेनार्द्धमात्रोऽकारोऽवशिष्यते ॥ उक्तञ्च पाणिनिना—

"अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेद्" ।

इति तस्यार्द्धमात्रत्वाद् व्यञ्जनत्वम् । पूर्णस्पृष्टत्वाभावात् स्व-रत्वम् । तथा चोभयधर्म्मयोगादन्तःस्थत्वमुपपद्यते ॥२॥

अथ तृतीयं स्थानमुष्मान्तःस्थगतिः । तद्यथा—सद्य इह, हर इह, विष्ण इहेति । सद्य इहेत्यत्रोष्मा हकारो विसर्गो वा विवृत्यकारोऽर्द्धमात्रो जायते ।

ओभावश्च विवृतिश्च शषसा रेफ एव च ॥
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥१॥

इति पाणिनिस्मरणात् । तस्य व्यञ्जनत्वात् तेन विच्छेदात् स्वरसन्धिर्नास्ति । एवं हर इहेत्यादावन्तस्थो विवृतिमापद्यते । तस्य स्वरद्वयमध्यस्थो विच्छेद एव रूपम् । शाकल्यस्तु यवयोस्तत्र लोपं मन्यते, तदसत् । वर्णलोपे स्वरसन्धेरनिवार्यत्वापत्तेः । वैयाकरणोप-कल्पितं पूर्वत्रासिद्धेः सन्ध्यभाववचनन्तु बालशिक्षौपयिकं कल्पना-मात्रम् । शास्त्रीयप्रक्रियाविशेषस्य शब्दोच्चारणविशेषाधाने सामर्थ्या-लाभात् । शास्त्रस्य शब्दस्थितिज्ञापकत्वमुपपदयते न तु तज्जनकत्वम् । अत एव लोपप्रक्रियायामसन्तुष्यन् पाणिनिः लोपः शाकल्यस्येत्याह । तथा च पाणिनिमते विवृतिवर्णादेशो यवयोः स्थाने भवतीति तद्विच्छेदात् सन्ध्यभावः स्वरसतोऽवकल्प्यते इति बोध्यम् ।

एषामन्तःस्थानां मुखनासिकाभ्यामुच्चारणे यँ वँ लँ अनुनासिकाः स्युः । रेफस्तु नासिक्यो नास्ति । विवृतिश्च नासिक्या न दृश्यते । अ. य. ड़. ळ. व.—इतीषद्विवृता अन्तस्थाः । एषु प्रथमो वर्णः संवृतोऽकारः । ऐ औ इत्यनयोर्योऽयमकारोच्चारणाभासः सोऽयं संवृतोऽकार. ।

"अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत् ।
ऐकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम् ॥१॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्" ।

इति पाणिनिस्मरणात् । यत्तु

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥१॥

इत्येवमेकारौकारयोर्विवृततरत्वम् । ऐकारौकारयोस्तु विवृततमत्वमुपदिश्यते तत् सन्ध्यक्षरापेक्षम् । संवृतत्वाख्यानं तु तत्प्रदेशापेक्षमित्यविरोधः ।

संवृतान्तःस्थाकारगर्भिणां सन्ध्यक्षराणां स्वरत्वं व्याहन्यते इति तु न भ्रमितव्यम् । विवृततरत्वविवृततमत्वाभ्यां स्वरत्वोपगमस्याबक्लृप्तत्वात् । म्लेच्छभाषालिपिविशेषेऽपीदमकारद्वैविध्यं दृश्यते । यथा-पारस्यलिपौ विवृताकारमलिपि(।) शब्देन, संवृताकारन्तु "अयन्"(ع) शब्देनोल्लिखन्ति । "अ अ"—इति सूत्रयन् भगवान् पाणिनिश्चेदं द्वैविध्यमुपदिशति । तत्र संवृताकारस्यान्तःस्थत्वं प्रतिपत्तव्यम् ।

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ॥

इत्येवं स्वराणां विवृतत्वेनोपदिष्टत्वात् । ऐ. औ इत्यादौ पृथगिवाकारोच्चारणप्रतिबन्धार्थं तदुच्चारणे प्रयत्नविशेषस्यापेक्षणाच्चैतस्य दुःस्पृष्टत्वं विद्यात् । ईषत्स्पृष्टपूर्णस्पृष्टयोरन्तरतो मध्यमवृत्त्या स्पर्शसिद्ध्यर्थं प्रयत्नविशेषस्य तत्रापेक्षिततत्वादिति बोध्यम् ।

ग. ज. ड. द. ब—इत्यविवृताः स्पर्शाः । यदि त्वेते पञ्चस्पर्शा मुखनासिकाभ्यामुच्यन्ते तर्हि स्थानद्वययोगिनस्ते ङ. ञ. ण. न. म. इत्येवं रूपाणि लभन्ते । शुद्धवन्नासिक्या अप्येते पूर्णस्पृष्टा अविवृता एव स्युः ॥*॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥५॥

—

॥ बाह्यप्रयत्नतो वर्णभेदः ॥

वर्णोपादानभूतो वायुर्वर्णभावात् प्रागवस्थोऽनुप्रदानं नाम । मुखायतनाद् बहिर्भूतेषु उरःकण्ठशिरःस्थानेषु संयोगायानुप्रदानानां यः प्रयत्नः सोऽनुप्रदानप्रयत्नो बाह्यप्रयत्नः । स द्विविधः संवारो नादो घोष इत्येवं त्रिधाकृतः प्रथमः । विवारः श्वासोऽघोष इत्येवं त्रिधाकृतो द्वितीयः । यत्रोच्चारणेऽनुप्रदानं मृदुविग्रहत्वात् कण्ठनलीं न विवृणुते स संवारः । खरविग्रहत्वात् तां विवृणुते चेत् स विवारः ॥

अथ यत्र वर्णस्वरूपारम्भायानुप्रदाने वायोर्भूयसी मात्रा संनिधत्ते कनीयसी तु प्राणस्य तेजसः स श्वासः । प्राणस्यैव तेजसो भूयसी मात्रा कनीयसो चेद् वायोः स नादः ।

यस्मिन् प्रयत्ने दृढाङ्गबन्धादुच्चरितस्य वर्णस्य प्रतिध्वनियोग्यता कनीयसी संपद्यते सोऽघोषः । श्लथाङ्गबन्धात् तद्योग्यताभूयस्त्वे तु घोषः । यथा संवारनादघोषाणामन्योन्यानुग्राहित्वादविनाभूतत्वं तथा विवारश्वासाघोषाणां चेति सत्यपि षट्त्वेऽनुप्रदानप्रयत्नद्वैविध्यमिष्यते । तथा च संवारनादघोषाऽनुप्रदानतया ये पूर्वे अ य र ल वाः अ़ य़ ड़ ऴ वाः ग ज ड द बाः ङ य ण न माश्च क्रमेण संसिद्धाः । त एव च विवारश्वासाघोषानुप्रदानतायां क च ट त पा इति जायन्ते । विवारश्वासाघोषाणां नासानाडीप्रतिपन्थितया कचादीनां नासिक्यत्वं नास्ति । तेनैतेषां ङ ञ ण न मानामपि श्वासानुप्रदानत्वेनोच्चारणे विशुद्धा एव क च ट त पा उच्चार्यन्ते नानुनासिकाः ।

ईषन्नादा यण् जशो नादिनो हझषः स्मृताः ॥
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्याच्छ्वासिनस्तु खफादयः ॥१॥

इत्येवं ब्रुवन् पाणिनिरन्तःस्थानां गजडदबानां चेषन्नादत्वं क च ट त पा नां त्वीषच्छ्वासत्वमाचष्टे तत्तु सोष्मवर्णापेक्षया न्यूनत्वाभिप्रायं द्रष्टव्यम् । ग ज ड द बापेक्षया घ झ ढ ध भ हेष्वधिकनादस्य तथा क च ट त पापेक्षया ख छ ठ थ फ श ष सेष्वधिकश्वासस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥

अथैते पूर्णस्पृष्टाः क च ट त पा यद्याभ्यन्तरप्रयत्नभेदान्नेमस्पृष्टाः कृत्वोच्चार्य्यन्ते तर्हि श ष स हा इति ऊष्माणो जायन्ते ।

क पयोर्नेमस्पृष्टतयोच्चारणे निर्विशेषं हकारोदयाच्चत्वार एवोष्माणो निष्पद्यन्ते । शषसहा नासिक्या न सन्ति । विवारश्वासाघोषाणां नासानाडीप्रतिपन्थित्वात् । "**अमोऽनुनासिका न ह्रौ**"—इति पाणिन्युक्त्या नादिनो रेफहकारयोः श्वासिनां च सर्वेषामनुनासिकत्वप्रत्याख्यानाच्च । तदित्थं प्रयत्नद्वयभेदाच्चतुस्त्रिंशद्वर्णा निष्पद्यन्ते । तत्रादितः पञ्च स्वराः एकोनत्रिंशद् व्यञ्जनानि ॥*॥

इति षष्ठः खण्डः ॥६॥

॥ अथ सन्ध्यक्षराणां स्थानप्रयत्नाः ॥

यौगिकेषु तु वर्णेषु सवर्णद्वययोगे स्थानभेदो नास्ति । तेन ह्रस्वदीर्घप्लुतानामविशेषात् सस्थानत्वम् ॥ अ आ अ ३ कण्ठ्याः । इ ई इ ३ तालव्या इत्यदि ॥ विभिन्नस्थानिनोस्तु संहितायां सन्ध्यक्षरस्य द्विस्थानत्वमनुभूयते ॥ आह च तथा—

"ए ऐ तु कण्ठतालव्यावो औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ" ॥इति

हकारस्तूष्मा द्वेधा संयुज्यते—पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च । तत्रपञ्चमान्तःस्थानां प्रत्ययत्वे पुरस्तात् संयुक्तो हकारो निगीर्णो भवतीत्युरः

स्थानं भजते । ह्ल् ह्न ह्ण ह्य ह्र ह्ल ह्व । इति ॥ कखयोः प्रत्ययत्वे हकारस्य जिह्वामूलं स्थानम् । पफयोः प्रत्ययत्वे हकारस्योपध्मानं स्थानम्, इति शाकटायनो मन्यते । अथ क च ट त पेभ्यो ग ज ड द बेभ्यो ङ ञ ण न मेभ्यो र ल ड़ ळे भ्यश्चोपरिष्टात् प्रयुक्तस्य हकारस्याश्रयस्थान-भाक्त्वं निष्पद्यते । तेन ख छ ठ थ फाः क च ट त पैः घ झ ढ ध भा ग ज ड द बै सस्थानाः सिध्यन्ति । तथोक्तम—

"कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू ॥

स्युर्मूर्द्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥१॥

जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः" ॥इति॥

ढस्य मूर्द्धा । ळ्हस्य दन्तः । ङ ण न मानां रलयोश्च सोष्मत्वं लोकभाषायां दृश्यते - साङ्हा, कान्हा, साह्मर, गेल्हा-इत्यादि । छन्दोभाषायां चैते प्रयुक्ता न दृश्यन्ते -इत्यतस्तानुपेक्ष्य कात्यायनः सोष्म-त्वेन दशवर्णानेवोपक्षिपति । **"द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः"** इति । हकारस्यार्द्धस्पृष्टत्वेऽपि आश्रयाणां कगादीनां पूर्णस्पृष्टत्वात् सोष्माणा-मपि पूर्णस्पृष्टत्वमुन्नीयते ॥

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः ॥

शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ॥" ॥इति

अनुप्रदाने त्वस्ति विशेषः । प्रथमास्तृतीयाश्चाल्पप्राणाः—क च ट त पा, ग ज ड द बाश्चेति । द्वितीयचतुर्थास्तु महाप्राणाः ।

ईषन्नादा यण् जशो नादिनो हभषः स्मृताः ॥

ईषच्छ्वासांश्चरो विद्याच्छ्वासिनस्तु खफादयः ॥१॥इत्युक्तेः॥

अस्य प्रकरणस्य चित्रद्वारा स्पष्टीकरणम्—

परात्परः

असङ्गः १ अव्ययः = आनन्दः २ अक्षरः = ब्रह्मा

विज्ञानम्	विष्णुः
मनः	इन्द्रः
प्राणः	अग्निः
वाक्	सोमः

ससङ्गः ३ क्षरः	=प्राणः	=आपः	वाक्	अन्नादः	अन्नम्
	आपः	=वाक्	अन्नादः	अन्नम्	प्राणः
	वाक्	=अन्नादः	अन्नम्	प्राणः	आपः
	अन्नादः	=अन्नम्	प्राणः	आपः	वाक्
	अन्नम्	=प्राणः	आपः	वाक्	अन्नादः

१ स्फोटः	=महावाक्यम्	२ अक्षरम्	=अ
	वाक्यम्		इ
	अक्षरम्		ऋ
	पदम्		ऌ
	वर्णः		उ

३ वर्णः =	अ	ह	ग	क
	य	य	ज	च
	र	ड़	ड	ट
	ल	ळ	द	त
	व	व़	ब	प
	ईषत्स्पृष्ट	दुःस्पृष्ट	मृदुस्पृष्ट	खरस्पृष्ट
	घ	ख	ङ	ह
	झ	छ	ञ	श
	ढ	ठ	ण	ष
	ध	थ	न	स
	भ	फ	म	ह
	सोष्ममृदुस्पृष्ट	सोष्मखरस्पृष्ट	नासिक्यस्पृष्ट	अदर्धपृष्ट

इति सप्तमः खण्डः ।

इतिमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे गुणपरिष्कारस्तृतीयः प्रपाठः समाप्तः ॥३॥

——

॥ अथाक्षरनिर्देशश्चतुर्थः प्रपाठः प्रारभ्यते ॥

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा तत्प्रयोगोऽर्थ एव च ॥
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ॥१॥
वेदस्याऽध्ययनाद्धर्मः संप्रदानात् तथा श्रुतेः ॥
वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च ॥२॥

इति कात्यायनस्मरणाद् वर्णाक्षरज्ञानपूर्वकं वेदार्थज्ञानं ब्राह्मणानामकारणं धर्म्मः । तत्र वर्णज्ञानं साधितम् । अक्षरज्ञानं साधयितव्यमितीदं प्रकरणमारभ्यते ॥

ब्रह्म जानानो ब्राह्मणो भवति । ब्रह्म च त्रेधा विवर्त्तमानमिदं विश्वं निष्पद्यते । परमक्षरं क्षरं चेति । दिग्देशकालानवच्छिन्नमपि यत्-क्षराऽक्षरयोरालम्बनतया मनोवत् परिच्छिद्यमानं भवति तन्मनोमय-मव्ययं नाम रूपं परम् । तद्धीयमानं सन्मनश्च भवति प्राणश्च वाक् च । तत्रास्मिन् मनोमयेऽव्ययेऽवलम्बितं प्राणमयं क्षरसञ्चालकं कूटस्थमक्षरम्। तदवलम्बितं वाङ्मयमशेषमिदं भूतजातं क्षरम् । नैतेभ्योऽतिरिच्यते किञ्चित् । त्रयोऽप्येते पुरुषा एकः पुरुषः । स विशुद्ध आत्मा वा विग्रहवानात्मा वा, अनेकैर्विग्रहवद्भिः कृत स्कन्धो वा, स पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । स एकैकः पुरुषो मनोमयः प्राणमयो वाङ्मयः प्रतिपद्यते ।

"अथो वागेवेदं सर्वं" मित्याह वेदपुरुषः । वागाकाशः । स वायुः । तत्तेजः । ता आपः । सा पृथिवी । सेयं पृथिव्यप्सु । आपस्तेजसि । तेजो वायौ । वायुराकाशे वाचि प्रतितिष्ठतीत्येवं वाच एवैते विकारा वाचो न व्यतिरिच्यन्ते । तस्माद् वागेवेदं सर्वं यदेतत् किञ्चित् क्वचिद् भूतजातमाकलयामः । अत एव च **"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता"**—इति च भगवान् वेदमहर्षिः प्राह । तानि

चैतानि सर्वाणि क्षराणि परतन्त्रत्वात् स्वतः स्थातुं न शक्नुवन्तीत्येतेषां सत्ताधायकमस्ति किञ्चिदन्तरतः स्वतन्त्रं तत्त्वमक्षरं नाम । स प्राणः । तत्रानन्तगुणा उपपद्यन्त इति गुणभेदादनन्तविधानपि तान् प्राणान् स्थानपाञ्चविध्यात् पञ्चविधानाहुः । त इमे पञ्चाक्षरा. श्रूयन्ते ब्रह्मेन्द्रविष्णवोऽग्निसोमौ चेति । एभ्य एव तु पञ्चभ्योऽक्षरेभ्यः सर्वाणि वाङ्मयान्येतानि क्षराणि भूतजातानि जायन्ते तदाधारेण प्रतितिष्ठन्ति तत्रैव चान्ते विलीयन्ते । इति परब्रह्मविद्या भवति ॥१॥

तत्रेयं वाक् त्रेधा विनियुज्यते-भूतभावेन,शब्दभावेनार्थभावेन चेति । वाच आकाशाद् वाय्वादिक्रमेणोत्पन्नानि भूतजातानि भूतमयः प्रपञ्चः । स एको विनियोगः ।१। अथ "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"ति नियमाद् वाय्वादिभूतेष्वनुप्रविष्टो वागाकाश एवाघातेन कम्पितः पृथग् भूत्वा वाय्वाधारेण वर्तुलवृत्तं चतुर्दिक्षु वीचीतरङ्गं जनयति । स नादात्मना कम्पमानो धावन् श्रोत्रमागतः श्रोत्रेन्द्रियप्रज्ञया समन्वयाच्छब्द- इत्युच्यते । स च शब्दमयप्रपञ्चार्थमयप्रपञ्चाभ्यां द्वेधा विनियुज्यते । तदुक्तं हरिणा—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्व यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।.इति॥

उभयविधोऽयं वाङ्मयप्रपञ्चः । स वाचोऽन्यो द्विविधो विनियोगः । तत्रापि त एव प्रकारा अनुवर्तन्ते ये भूतमयप्रपञ्चे व्याख्याताः । कनीयांश्चायं वाङ्मयप्रपञ्चो भूतमयप्रपञ्चात् । तस्य तदेकदेशत्वात् । तेन परब्रह्मविद्यामधिजिगासुरादौ शब्दब्रह्मविद्यां परिशीलयेत् । अल्पायासेनाधिगता हि सा शब्दविद्या महायाससाध्यायाः परविद्याया अधिगमायोपयुज्यते । तथा चाह भगवान् वेदपुरुषः ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१॥इति॥

तत्र ब्रह्मेति विज्ञानमाहुः । तद् द्विविधं शाब्दं परं चेति । विज्ञानाभिनिवेशाभ्यां ज्ञानसिद्धिं भगवान् गौतमो मन्यते । शब्द-

श्रवणाधीनाऽर्थप्रतिपत्तिर्विज्ञानं तच्छाब्दं ब्रह्म। अथ परीक्षाद्वारा साक्षाद्दर्शनाधीनाऽर्थप्रतिपत्तिः परं ब्रह्म। तत्र पूर्वेषां परीक्षकाणां द्रष्टृणामाप्तार्थविषयकोपदेशवाक्यार्थश्रवणे निष्णाता यदि परीक्षार्थं प्रवर्त्तेरन् तर्हि तेषामभिनिवेशज्ञानं साधीयः स्यादित्ययमर्थः प्रथमः।

अथवैतदन्यथा व्याख्यास्यामः। शब्दस्तावत् प्रकारद्वयेन ज्ञानं जनयति। अभिधानेन प्रतीकत्वेन चेति। ओंशब्दवाच्यं च ब्रह्म। ओमिति शब्दश्च ब्रह्म। तथा च श्रूयते—

"एतद्वै सत्यकामपरं चावरं च ब्रह्म यदोंकारः ॥इति॥

तत्रैतदभिधानपक्षेणायमर्थो व्याख्यातः। अथ खलु शब्दप्रतीकत्व-पक्षेणाप्यस्यार्थो द्रष्टव्यः। द्वे विद्ये भवतः। परा चैवापरा च। परब्रह्मविद्या परा। शब्दब्रह्मविद्या त्वपरा, भूयसा साम्येनो-भयोः प्रवृत्तिरिति शब्दसृष्टिज्ञानेन तत्साहश्यवशादर्थसृष्टिज्ञान-मपि सिद्ध भवति इति पश्यन्ति। यथा च परविद्यायामव्ययमक्षरं क्षरमिति त्रिविधं प्राणब्रह्म। एवमिहापरविद्यायामपि स्फोटो-ऽक्षरं वर्ण इति त्रिविधं वाग्ब्रह्म। तत्र वर्णानामक्षराणां पदानां समस्तपदानां वाक्यानां चैकत्वबुद्धिप्रयाजकः स्फोटोऽव्ययमव्यय-पुरुषवदमीषामक्षरादीनामालम्बनं भवति, इत्यन्यत्र व्याख्यातम्। तत्रैते नित्यमन्वाभक्ताः स्वरवर्णाः पञ्चाक्षरशब्देन व्यपदिश्यन्ते-अ. इ. उ. ऋ. ऌ. इति। पञ्चभ्य एवैतेभ्योऽक्षरेभ्यः क्षराः सर्वे व्यञ्जन-वर्णा उत्पद्यन्ते। अक्षरोपगृहीताः क्षरा अक्षरालम्बनेऽव्ययायतने प्रतितिष्ठन्ति। परतन्त्राणि क्षराणि व्यञ्जनान्यक्षरं स्वरमालम्बन्ते। अक्षरं तत् स्वरजातमव्यये स्फोटेऽन्वाभक्तं रूपं धत्ते। त्रितयमिद-मेकीभूतमेका वाक्।

अथ वाक्यं पदं पदमक्षरैरक्षरमपि क्षरैर्वर्णैः कृतरूपं भवतीत्यत-इदमक्षरं वा पदं वा वाक्यं वा सर्वापीयं वाग्वर्णैरेवाद्धा कृतरूपाऽव-धीयते। अक्षरं तु वर्णानामात्मा भवतीति वर्णेभ्यो भिद्यते।

अतएव—"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे"
इत्यादिवाक्ये वर्णाक्षरयोर्भेदः स्मर्य्यते ॥

यत्तु वर्णसमाम्नायोऽक्षरसमाम्नाय इत्यादावभेदेन व्यवहार-दर्शनाद् वर्ण एवाक्षरमिति बालकाः पश्यन्ति तद् भ्रान्तम् । तयोरष्टधा प्रभेदोपलब्धेः । (१) वर्णाः क्षराः, अक्षराण्यक्षरा इति पुरुषतः ॥ (२) वर्णाश्चतुःषष्टिः । अक्षरं तु गुरुलघुभेदाद् द्विविधमेवेति संख्यातः । (३) एकबिन्दुर्वर्णः । नवबिन्दु त्वक्षरमिति योनितः ॥ (४) निर्व्यापारो वर्णः । पञ्चमबिन्दुस्थस्याक्षरस्य निर्व्यापरत्वे पृष्ठतो व्यापारत्वे वा लघुत्वम् । पुरतो व्यापारत्वे गुरुत्वमिति व्यापारतः ॥ (५) वर्णानामन्नत्वमक्षराणामन्नादत्वमिति वीर्य्यतः ॥ (६) अक्षरप्रतिष्ठया प्रतिष्ठिताः स्वतोऽप्रतिष्ठा एते वर्णाः स्वप्रतिष्ठानि त्वक्षराणि—इति प्रतिष्ठातः ॥ (७) वर्णा अक्षरस्याङ्गानि । अक्षरं पुनरेषां वर्णानामङ्गीत्यात्मतः ॥ (८) ओमिति त्रयो वर्णा एकमक्षर-मिति प्रतिपत्तिभेदतश्च ।

तदित्थमिदमर्थद्वयं सिद्धं भवति । वर्णेभ्योऽक्षरमन्योऽर्थ इत्येकम् ॥ अर्थानां च शब्दानां च त्रैधातव्यसाम्यात् परब्रह्मविद्या-शब्दब्रह्म-विद्ययोरन्योन्यं सौसादृश्यमस्तीति द्वितीयम् ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥१॥

—

अक्षरस्य गुरुत्व-लघुत्वोपपत्त्यर्थं वर्णानामङ्गाङ्गिभावो व्याख्यायते । बृह-त्या वाच पतिः बृहस्पतिरित्यादौ वाचो बृहतीत्वं ब्रुवते । बृहती चेयमैन्द्रं छन्दः । बृहतीसहस्रस्येन्द्रप्रियधामत्वेनैतरेयारण्यकश्रुतौ व्याख्यानात् । तस्मादियमैन्द्री वाग् बृहती । बृहतीति नवभक्तिच्छन्दसः संज्ञा । बृहतीत्वं चोपदिश द्भिराचार्य्यैरेतस्याः स्वरवर्णात्मिकाया ऐन्द्र्या वाचो नवभक्तिकत्वं विवक्ष्यते । तथा चैतस्या वाचोनव बिन्दवो व्याप्तिस्थान-मित्येनावानय मक्षरस्फोटो द्रष्टव्यः ।

एकैकं व्यञ्जनमुच्चार्यमाणं यावन्तं प्रदेशमवगाहते सोऽर्द्ध-मात्राकालः। तदुपलक्षणमयमेको विन्दुः। यद्यपि स्वर एवाक्षर-मुच्यते, स्वरश्च केवलं द्वौ विन्दू अवगाहते न तु नव विन्दून्। स्वरस्यैक-मात्रतया, द्वाभ्यामेव चार्धमात्रविन्दुभ्यामेकमात्रत्वसम्पत्तेः। तथापि तस्य नवविन्दुकमिदमायतनं क्रान्तिस्थानं भवति। एतावति प्रदेशेऽयं स्वरो व्यञ्जनान्यात्मसात्कर्तुं क्षमते। सव्यञ्जनोऽपि स्वरोऽक्षरं भवति। तथा चैवंविधस्य क्षरस्यायं नवविन्दुकः स्फोट आयतनं विज्ञायते। तदव्ययम्।

अयमत्राभिसन्धिः। परब्रह्मणीवास्मिन् शब्दब्रह्मण्यप्यक्षरमात्मा उक्थाऽर्काऽशितिभेदात् त्रिभक्तिर्भवति। तत्रायं विन्दुद्वयावगाही स्वर आत्मा उक्थम्। तस्यैते सप्तविन्दवोऽर्कस्थानम्। उक्थादुत्थिताः प्राणा अर्काः। ते क्रान्तिमण्डले स्वे महिम्नि अशितिमाधातुमाक्रम-माणाः क्षरं व्यञ्जनमात्मसात्कुर्वन्ति। ततोऽसमुक्थ आत्मा क्रान्तिमण्ड-लाख्ये स्वे महिम्नि स्वेनार्केणाभिनिगृहीतान् व्यञ्जनवर्णानात्मन्विनः करोति। तेनैतस्य स्वरमात्रस्याऽक्षरत्वेऽपि तावतां क्षराणां व्यञ्जना-नामक्षरसत्तयैव सत्तावत्त्वात् तावद् व्यञ्जनविशिष्टस्यास्य स्वरस्या-क्षरत्वमुपपद्यते। यथा अ इत्येकमक्षरम्। एवं य[1] र्य[2] र्त्र्य[3] स्त्र्य[4], इत्येता-न्यप्येकैकान्यक्षराणि भवन्ति। तानि उपसर्गव्यञ्जनतारतम्येऽपि छन्दसि समानं स्थानमवगाहन्ते। एवमुत्तरतोऽपि अ. अर्[1], अर्क्[2], अर्क्ट्[3], इत्येवं चत्वार्यप्यक्षराणि उपधानव्यञ्जनतारतम्येऽपि छन्दसि समानं स्थानं भजन्ते। तत्र व्यञ्जनाऽभावे शुद्धस्यैव स्वरस्याक्षरत्वम्। पृष्ठतः पुरतो वा व्यञ्जनसत्वे तु तद्विशिष्टस्यैवाक्षरत्वं न तु शुद्धस्येत्या-वेदयति भगवान् कात्यायनः— "**स्वरोऽक्षरं सहाद्यैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चाव-सितैः**"—इति। स्वरो द्वेधोपपद्यते अपृक्तो व्यञ्जनसंपृक्तश्च। "**अहम्**"। इत्यत्र प्रथमोऽकारोऽपृक्तः। तस्य द्वेधा प्रतिपत्तिः शक्या कर्तुम्। वर्णत्वेनाक्षरत्वेन चेत्याह—"**स्वरोऽक्षर**" मिति। हकारा-दुत्तरस्त्वकारो हमाभ्यां संपृक्तः। तत्र व्यञ्जनविशिष्टस्य स्वरस्य

व्यञ्जनोपहितत्वेन दृष्टौ वर्णत्वमेव नाक्षरत्वमित्याह– "सहाद्यै" रित्यादि । तेन हम्,, इत्येतावतो व्यञ्जनविशिष्टस्वरस्याक्षरत्वं विधीयते । "वागित्येकमक्षरम्-अक्षरमिति त्र्यक्षरम्" (ऐ.ब्रा. २१ अ. इत्यैतरेयश्रुत्या तथैव प्रतिपत्तेः । कतिभिर्व्यञ्जनैरिति जिज्ञासायां पृष्ठतस्तावदाद्यै रित्येकशेषादेकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा व्यञ्जनैः, उत्तरतस्तूत्तरैरित्येकशेषादेकेन, द्वभ्यां त्रिभिरेव वा संपृक्तस्याक्षरत्वं नियम्यते । तत्र पृष्ठार्केणाभिनिगृहीता अशितयश्चत्वार्य्युपसृष्टानि व्यञ्जनानि । पुरतोऽर्केण त्वभिनिगृहीता अशितयस्त्रीण्युपहितानि व्यञ्जनानि । तान्युभयान्यस्यात्मनः स्वरस्याङ्गानि भवन्ति । तत्रेयं वाक् पृथ्वीरसः । स्वरः सूर्य्यरसः । तथा च पृथिव्याः सूर्याङ्गत्वमिवैतस्या वाचः स्वरप्राणाङ्गत्वं वेदितव्यम् ॥१॥

अथाहुः । अपृक्तस्य व्यञ्जनसंपृक्तस्य वा स्वरस्यैतत्कात्यायनोक्तमक्षरत्वं स्वरान्तरासन्निधाने साधूपपद्यते । किन्तु यत्रानेकस्वरमेकं पदं तत्र स्वरद्वयमध्यवर्त्तिनां व्यञ्जनानां पूर्वाङ्गत्वं वा पराङ्गत्वं वेति संशयः । यथा अपक्वस्त्यानमिति पञ्चाक्षरे पदे शुद्धोऽकारः । पयुताऽकारः । कवयुताऽकारः । सतययुताऽकारः । नपूर्वो मोत्तरश्चाऽकारः—इत्येवं तानि पञ्चाक्षराणि भवन्ति । तत्र पकारककारसकारादीनां पूर्वाङ्गत्वं कस्मान्नास्तीति शङ्कायामुच्यते । स्वरस्य पृष्ठतः पुरतो वा बलतारतम्यं भवतीति स्वरद्वयसत्वे पूर्वस्य परस्य वा स्वरस्य बाध्यबाधकभावेनैकत्र बलोपक्षयाद् व्यञ्जनविशेषे संक्रमणबलमेकस्य प्रतिरुध्यते । यथा कुलशब्दे लकारस्य पराङ्गतया पूर्वाङ्गत्वाऽनुत्पत्तिः । अधिकेन परबलेनाल्पस्य प्रत्याहतत्वाद् । तच्चेदं बलतारतम्यं स्वरद्वयसन्निकर्षे नियम्यते । तथाहि पञ्चमो विन्दुर्हृदयत्वादुक्थः । तस्मिंश्च पञ्चपादा बलम् । अथ षष्ठे विन्दौ चत्वारः पादा बलम् । तदुभयविन्दुस्थे स्वरे नव पादा बलस्योपपद्यन्ते ।

तैरेव नवपादैर्बलैरयं स्वरः पूर्वपरविन्दुस्थेषु व्यंजनेषु विभवति। तथा च पञ्चमविन्दुस्थे तावदुक्थे पूर्णं बलं भवति। अथ उक्थविन्दोः पृष्ठतश्चतुर्षु

पुरतश्च सप्तमादिषु त्रिषु विन्दुषु क्रमशःक्रमशःबलं पादतो ह्रसति इति निसर्गः ।

अनुष्टुब् वाक्	उपसर्ग-व्यञ्जनानि वाक्				स्वरः वाक्		उपधान-व्यञ्जनानि वाक्			
अर्द्धमात्रादेशः	१	२	३	४	५	६	७	८	९	प्राणो बृहती
नवविन्दवः	०	०	०	०	०	०	०	०	०	अक्षरो बृहतीन्द्रः
	१	२	३	४	५		६	७	८	वागनुष्टुप् (वायुः)
स्वरस्याकर्षण बलपादाः	I	I	III	IIII	IIII	IIII	III	II	I	स्वरबलानि वाचि
	अर्धमात्रावच्छिन्नैर्नवभिः प्राणैरवच्छिन्नं मनो वाङ्मयं भवति॥१॥ मनःप्राणवाङ्मयमेकमक्षरमव्ययकोशत्रयगर्भं[illegible]ऽहम् ॥२॥									

तेन हरि-शब्दस्य रेफे पूर्वस्वरबलं त्रयः पादाः। परस्वरबलं तु चत्वारः पादास्तेन रेफः पराङ्गम् । [कार्त्स्न्यम्] इत्यत्र तकारे पूर्वस्वरबलं द्वौ पादौ; परस्वरबलं त्वेकः पादः । तेन तकारः पूर्वाङ्गम् सकारे पूर्वस्वरबलमेकः पादः । परस्वरबलं द्वौ पादौ । तेन सकारः पराङ्गम् । [ऊर्क् स्त्र्यङ्ग] इत्यत्र, ककारे पूर्वस्वरबलं द्वौ पादौ, परस्वरबलं तु तत्र नास्तीति ककारः पूर्वाङ्गम् । सकारे तु पदान्तयत्याऽर्द्धमात्रिकया विच्छेदात् पूर्वस्वरबलं त्रयः पादाः। परस्वरबलं त्रयः पादाः। बलसाम्यादुभयतोऽयमाकृष्टस्तकारो द्विरुच्यते । तदित्थं बलवैषम्ये यस्य बलाधिक्यं यत्र व्यञ्जने क्रमते तत् तस्याङ्गम् । तदेतन्निष्कृष्याह कात्यायनः । **"संयोगादिः पूर्वस्य । यमश्च । क्रमजं च । तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे । अवसितं चेति।"** (१।१०२।१०६) तर्कः। गुल्मः। हव्यम् । पत्नी । सत्यम् । इत्यादिषु मध्यवर्त्तिनो व्यञ्जनयोरेकं पूर्वाङ्गं द्वितीयं पराङ्गम् । अन्तस्थोष्मभिन्नानां संयुक्तानामवसितानां न व्यञ्जनानामुच्चारणं द्वया

अञ्जसा विक्रम्य चेति । **"यथैवोपक्रमेद् वर्णांस्तथैवैतान् समापये"**दिति नियम्योच्चारयतां पदमध्ये बलविशेषप्रयोगाभावोऽञ्जसोच्चारणम् । सत्यमिति । अत्र स्पर्शस्य तकारस्य तर्कगुल्मादयन्तःस्थवन्मृदुग्रहः । तत्रेदं तकारस्य पूर्वाङ्गत्वमुक्तम् । अथ विक्रम्योच्चारणे तु स्पर्शे बलविशेषोदयात् पूर्वः स्वरो विक्रमते । तेन स्पर्शान्ते विच्छिद्य पुनरुत्तरवर्णोच्चारणाय प्रयत्नलाभः । तत्र **"संयोगविभागशब्देभ्यः शब्द"** इत्यौलूक्यशास्त्रात् संयोगजस्पर्शानन्तरं विभागजः पुनरन्यः स्पर्श उदेतीति वर्णद्विरुक्तिर्भवति । तथा चैवं संयोगादेर्वर्णस्य द्वित्वसिद्धं व्यञ्जनं क्रमजं तत्पूर्वाङ्गम् । सत्यमिति तद्द्वित्वे प्रथमः पूर्वस्य । तयौ परस्याङ्गम् । रुक्क्म इति कयमौ पूर्वस्य । मः परस्य । रहयोस्तु संयोगादित्वे परः स्पर्शो द्विरुच्यते । यथा पार्श्व्यमिति रात्परः शः क्रमजः पूर्वस्य । शवयाः परस्य । वर्ष्ष्यायेति रात् षः पूर्वस्य । षयौ परस्य । बाह्वोरिति हाद्वः पूर्वस्य । वः परस्य । क्रमजादुत्तरं व्यञ्जनं स्पर्शे परे पूर्वाङ्गम् । यथा पार्ष्ण्या इति रषषाः पूर्वस्य, णयौ परस्य । वर्ष्मन् इति रषषाः पूर्वस्य मः परस्येति ॥

"ङणोः कुक् टुक् शरि । नश्च । शि तुगिति पाणिनीयैः सूत्रैर्विधीयमानाः कटधताः पूर्वस्पर्शद्विरुक्तिरूपा एवावधीयन्ते । ङणनानां ह्रस्वात्परेषां स्वरप्रत्यये द्विरुक्तिरिव स्वरभक्तिमदूष्मप्रत्ययत्वेऽप्युच्चारणसंप्रदायक्रमानुरोधात् क्वचित् स्वरमात्रात् परेषां द्विरुक्तिः प्रवर्त्तते । किन्तूष्मणां नासिक्यप्रतिपन्थितया नासिक्यता निवर्ततइति प्राङ्क्षष्ठः, सन्त्सः सञ्श्शम्भुरिति रूपाणि । सञ्शम्भुरित्यत्र तु प्रतिगृह्यत्वाद्विरत्योच्चारणाच्च नासिक्यताया अनिवृत्तिः । एषु सर्वत्र द्वित्वसिद्धस्य पूर्वाक्षराङ्गत्वं नेयम् ।

कात्स्न्र्यमित्यद्वयान्तराले अ, र, त, स, न, याः षड्वर्णाः । तेष्वरताः पूर्वमक्षरं सनयाः परमक्षरं भजन्ते । पृष्ठतो बलेन तकारे परस्य पुरतो बलेन सकारे पूर्वस्याक्रमणेऽपि विप्रतिषेधे मूलबलात् सिद्धिरिति न्यायेन कृत्स्नशब्दव्यवस्थाऽनुरोधात् सामञ्जस्योपपत्तेः । तक्म्यमित्यत्र कमये पूर्वस्य, यमके परस्य बलप्रयोगाद विप्रतिषेधे

सन्निकर्षातिशयात् कस्य पूर्वांगत्वेऽपि मययोः पराङ्गत्वमेव। विप्रतिषेधे परं कार्य्यमिति न्यायेन पुरतो बलापेक्षया पृष्ठतो बलमतिशेत इति मध्यमकारे पराङ्गत्वसिद्धेः। वैदिकानां तु समये पूर्वबलावष्टब्धेऽपि ककारे परबलं प्रसज्जत इति बलद्वयविरुद्धप्रत्याकर्षात् कद्वयसिद्धिः तक्कम्यमिति। तत्रोत्तरके मप्रयत्नाक्रमणान्नासिक्यत्वमिति यमसंज्ञा क्रियते ॥ [विश्वप्स्न्या] पः पूर्वाङ्गम्। मः पराङ्गम्। [विष्वक्पाशः] इति बलसाम्येऽपि कः पूर्वाङ्ग न पराङ्गम्। पदान्तयत्या विच्छेदात्। तदित्थं स्वरानेकत्वे बाध्यबाधकभावो व्याख्यातः ॥*॥

उक्तं पूर्वम्। अपृक्तः, सति व्यञ्जने व्यञ्जनसंपृक्तः स्वरोऽक्षरं भवतीति। तत्र सप्त व्यञ्जनान्येकेन स्वरेण ग्रहीतुं शक्यन्ते। यथा [स्त्र्यर्क्ट्] इति। स. त. र. य. अ. र. क. ट.—वर्णैरष्टवर्णं सप्तव्यञ्जनं नवबिन्दुकमकारात्मकमेकमक्षरं भवति। तत्राकारो वर्णमात्रं न त्वक्षरम्। सोऽयं वर्णोऽकारः सप्त व्यञ्जनानि चाकारात्मकस्याक्षरस्याङ्गानि। तदुच्चारणाधीनोच्चारणत्वात्। नातोऽधिकमस्य स्वरस्य व्यञ्जनाभिनिग्रहणे सामर्थ्यम्। अत एव तु पृष्ठतः पञ्चमं पुरतो वा चतुर्थं यदि व्यञ्जनमुपदध्याद्—अवश्यं तर्हि तदुच्चिचारयिषावशाकृष्टः कश्चिदन्यः स्वरस्तत्र प्रसज्येत। तदुच्चारणाय पूर्वस्वरस्यालब्धबलत्वात्। यथा [न स्त्र्यर्क्टप्] इत्यत्र नकारे तकारे च स्वरो हठादासज्जते ॥ **इति द्वितीयः खण्डः**॥

अथातोऽस्मिन्नक्षरे दैवतानुध्यानमाख्यास्यामः। निरवयवे मनसि तावत् समावृतो नव प्राणखण्डाः संनिविशन्ते। प्राणमयास्ते कोशाः। प्राणात्मकेषु च तेषु नवबिन्दुषु पञ्चमो बिन्दुर्नभ्यत्वादात्मा। इतरेऽष्टावङ्गानि। पंचमबिन्दुस्थः स्वरोऽक्षरम्। स चायमैन्द्रवायवो ग्रहो वाच आत्मा। स हि प्राणो वाङ्मयत्वादिन्द्रो नामोच्यते। अयमेव प्राणः सरस्वत्यधिष्ठाता सरस्वान्नामाभिधीयते। यथोक्तं बृहद्देवतायाम्—

"सरांसि घृतवन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यत् त्रिषु॥

सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाचं प्राहुः सरस्वतीम् ॥,, इति केचिदाहुः ॥

यद्यपीयं सर्वा वाक् पार्थिवत्वादाग्नेयो प्रतिपद्यते । **"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"** इति श्रुतेः (१० । ३ प्र. । ५ ब्रा.) तथापीयमिन्द्रेण प्राणेनाधिष्ठितत्वात् तेनैकीभावादैन्द्री भवति । स चायमिन्द्रः प्राणो द्विविधः आन्तरीक्ष्यो दिव्यश्च । तत्रायं दिव्येन्द्रः प्रज्ञा प्राणः । स च वितायमानायां ध्वनिरूपायां वाचि विवेचयन् स्वरं व्यंजनं चैवं संविभाजयति । अथान्तरीक्ष्यो वायुना सजूर्भवति । इन्द्रतुरीयो वायुरैन्द्रवायवो ग्रहो भवन्नाग्नेयीमिमां सर्वां ध्वनिवाचमध्यास्ते । गायत्रो ह्यग्निः । अग्निदैवतत्वाच्चेयं वाग् गायत्री । अष्टभक्तिर्हि गायत्री । तेन स्वरमेकमनुगतानि सप्त व्यंजनान्येकमक्षरं वाक् । तस्या वाचोऽयमुक्थांशः स्वरो नामैतेषु नवविन्दुषु पंचमं षष्ठं च विन्दुमधिष्ठिति । प्राणस्त्वयमिन्द्रांशो बृहतीरूपत्वान्नव विन्दूनभिव्याप्यावतिष्ठते । तथा च श्रूयते—**"याव द् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"**—इति । **"यत्र ह क्व च ब्रह्म तद् वाक् । यत्र वाक् तद्वा ब्रह्म ।"** इति च ॥ (ऐ. आ. · · · · · ·) इन्द्रो ह वाचां ब्रह्म । इन्द्र आत्मा ब्रह्मेत्येकार्थाः । यथायं शारीर आत्मा सर्वां शरीरयष्टिमभिव्याप्यावतिष्ठते—एवमयमिन्द्रो वागात्मा नव विन्दूनभिव्याप्नोति । एतावदेवास्य वाङ्मयस्येन्द्रस्य शरीरं प्रतिपद्यते । तस्य शरीरस्य भागे यावन्ति व्यंजनानि सम्प्रविष्टानि भवन्ति तावतीयं वाक् तस्मादिन्द्रात् परिमीयते । अष्टवर्णैर्नवविन्दुभिश्च परिमिता हीयमेकाक्षरा वाक् सिद्धा भवति । तमेतमर्थं भगवान् कुरुसुतिः काण्वो वेदपुरुषः प्राह—

"वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ॥"

इन्द्रात् परितन्वं ममे—इति ॥ ऋ० सं० ८ । ७६ । १२ ।

ट्त्रिंशदक्षरो बृहतीरूपः प्राण इन्द्रः। तस्येन्द्रा स्य तनूं परि । इत्थंभूताख्याने परिशब्दः । अष्टा- नवस्रक्तिम् । ऋतस्पृशं वाचं ममे परिमापितवान्। हि चतुरक्षराणि भवन्तीति द्वात्रिंशदक्षराऽनुष्टु- ापदी वाक् । पुनरप्येकेन चतुरक्षरेण पादेन सम्पद्यमाना नवस्रक्तिः । स्रक्तयः कोणाः । सेत्थमियमनुष्टुप् वाक् तमृतं बृहतीप्राणं स्पृशति । बृहत्यामनुष्टुभोऽन्तर्भावादिह वाचः प्राणेनैकीभावो विवक्षितः । इत्यारण्यकश्रुत्यनुसारिणी व्याख्या (ऐ० आ० २।३।६) ॥ ऋतस्पृशमित्यस्यानुष्टुब् वाग् बृहत्या स्पृष्टेत्यर्थमाह सायणः। ऐतरेयश्रुतिस्तु "**सत्यं वै वागृचा स्पृष्टे**" त्यर्थमाह । तथा चायं श्रोत्रग्राह्यः शब्दः सत्यं वाक्। सहृदयत्वात्। सा ऋतवाचा निर्हृदयया नित्यं स्पृष्टा भवतीत्यर्थः प्रतिपत्तव्यः ।

अयमत्राभिसंधि । ऋतञ्च सत्यञ्चेति द्वे भवतः । नेत्रं सूत्रम् । तत्र हृदयतोग्राहि नेत्रं नाम । सर्वतोग्राहि तु नेत्रमृतं नाम । तथा चाऽशरीरा- रमहृदय सर्वमेव ऋतनेत्रगृहीतत्वाद् ऋतमुच्यते । हृदयेनाकृष्टत्वात्तु सहृदयं सशरीरं सत्यम् । आपो वायुः सोम इति ऋतानि, अशरीरत्वात् । अग्निर्यम आदित्य इति सत्यानि, सशरीरत्वात् । तत्राप इति पारमेष्ठ्यमण्डलस्थां सुब्रह्मण्यानाम्नीं वाचमाह । यां त्वेतामष्टापदीं गायत्रीनाम्नीं वाचं ब्रूमः, सा सर्वापि स्वयोनिरूपां तामृतवाचं स्पृशन्त्येव रूपं धत्ते । तत्प्रभवा, तत्प्रतिष्ठिता, तत्रैवान्ते विलीयते । तस्मादाह-ऋतस्पृशमिति । आपो हि सा वाक् । "**सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेदं सर्व- माप्नोद् यदिदं किञ्च तस्मादापः** इति श्रुते : (श० ६।१।१।९) सा ऋतम् । यस्त्वयमत्र प्राणः तत्सत्यम् । "**आप एवेदमग्र आसुः।**

ता आप: सत्यमसृजन्त (शत० १४ कां० ६ प्र० ६ ब्रा०) इति श्रुते:। प्राणस्तावदिन्द्रः सोऽप्सु वाक्षु द्वेधा विनियुज्यते। सत्यात्मना प्रज्ञात्मना च। तत्र प्रज्ञाप्राणेन वर्णाक्षरपदवाक्यादिविभागा भवन्ति। मानुषोष्वेव तु वाक्षु स प्रज्ञाप्राणोऽधिकुरुते न त्वव्याकृतासु वायुतेजोजलपृथिवीनां वाक्षु। सत्यप्राणस्त्वयं सर्वास्वेव वाक्ष्वविशेषेणाधिकुरुते सत्येनार्गभितानामपां वाचामनात्मतया स्थातुमनर्हत्वात्। आसामेव ऋताख्यानां वाचां समुद्रः सरस्वान्नाम। सेयमशरीरा विभ्वी वाक्। अथ सत्यवैशिष्ट्येन तदवच्छिन्नतया सा वाक् सशरीरा सती सरस्वती॥ अपरिच्छिन्नत्वाद् ऋतं सरस्वान्। परिच्छिन्नत्वात् सत्यवती सरस्वती। सोऽयं सत्यप्राण एव प्रज्ञाप्राणेन विभाजितोऽक्षरं भवति। स आत्मा। स स्वरः। सोऽङ्गी। व्यञ्जनानि तु क्षराणि तान्याङ्गनि। एकेन विन्दुना त्वेतमात्मानं वर्द्धयति। स पञ्चमविन्दुस्थः षष्ठं बिन्दुमप्यवगाहमानः सन्नेकमात्रः सम्पद्यते। वीर्य्याधिक्याद्ध्येकः कश्चिदात्मा चाङ्गी च भूत्वा सर्वाण्यङ्गान्यधीष्टे इति हि न्यायो यजुःश्रुतौ षष्ठे काण्डे व्याख्यातः। (श०६।१प्र०।१ ब्रा०।६कं० तेनार्द्धमात्राणां व्यंजनानामयमेकमात्रः स्वरो मात्राधिक्यादात्मा भवति। आत्मत्वाच्चायं स्वरस्तेषु व्यञ्जनेषु प्रभवति। सर्वाणि व्यंजनान्यात्मसात्कुरुते। तथा चैकमात्रादात्मबिन्दोः पृष्ठतश्चत्वारोऽर्द्धमात्राबिन्दव उपसर्गस्थानानि। पुरतस्तु त्रयोर्द्धमात्राबिन्दव उपधानस्थानानीत्येवमष्टौ विन्दवो निष्क्रष्यन्ते। एतदभिप्रायेणैव श्रूयते—

"**ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप्**—(ऐ. आ. १। १४)

१	२	३	४	५	६	७	८	६	बृहती
०	०	०	०	०	०	०	०	०	प्राणाः
व्य.	व्य.	व्य.	व्य.	स्वरः		व्य.	व्य.	व्य.	वाचः
I	II	III	IIII	IIIII–IIII		III	II	I	अक्षरबलानि
१	२	३	४	५		६	७	८	अनुष्टुप्

"वागनुष्टुप्"— (शत १।५।२।२७) इत्याचक्षाणा वैदिकमहर्षयोऽक्षरस्यैतस्याष्टविन्दुत्वमभिप्रयन्ति। स्वरस्यैकस्य व्यञ्जनद्वयसमानावगाहितया नवव्यञ्जनसंनिवेशावकाशस्यैकस्वरकसप्तव्यञ्जनसंनिवेशावकाशेन तुल्यत्वाद् बृहतीप्राणावच्छिन्नस्याक्षरस्य वागवच्छेदेनाष्टभक्तिकत्वं संभवतीत्यक्षरात्मिकाया वाचोऽनुष्टुप्त्वमुपपद्यते। अष्टभक्तिकस्य छन्दसो गायत्रीत्ववदनुष्टुप्त्वेनापि व्यपदेशसंभवात्। अथवैकैकमक्षरमष्टभक्तिकं भवतीति चतुरक्षरच्छन्दसो द्वात्रिंशद्भक्तिकत्वं संभवति। चतुरक्षराणि सर्वाणि च्छन्दांसि श्रूयन्ते (शत० १।५।२।२७)। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिगित्येवं विंशत्यक्षराया द्विपदाविराज ऊर्ध्वं चतुर्भिश्चतुर्भिरक्षरैरनुवर्द्धितैर्गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीनामुपपन्नतया छन्दोभिरुपलक्षितायाः सर्वस्या वाचो द्वात्रिंशद्भक्तिकानुष्टुप्त्वमुपपद्यत इति बोध्यम्।

प्रत्यक्षरं नवविन्दुषु हृदयस्थस्वरस्थानतया पञ्चमषष्ठविन्द्वोरात्मत्वम्। इतरे सप्त विन्दवस्त्वात्मनः क्रान्तिस्थानत्वान्महिमानो भवन्ति। पञ्चमषष्ठविन्दुस्थस्य स्वरस्वरूपनिरूपकस्य प्रज्ञाप्राणस्येन्द्रस्यं संपरिष्वक्तोऽयमक्षर-स्वरूप-निरूपकः प्रज्ञाप्राणोऽन्य इन्द्रः सप्तव्यञ्जनवर्णानष्टमं स्वरवर्णं चाभिव्याप्नोतीति प्रतीयते। अत एव च बृहतीच्छन्दसोऽप्यस्येन्द्रस्यानुष्टुप्चारित्वमप्युपपद्यते। तथाचाहुर्वेदमहर्षयः-

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा॥
(ऋक् सं० मं० १०, सू० १२४, मन्त्र ९)॥इति॥

त्रयस्तावदस्य मन्त्रस्यार्था भवन्ति। अधिदैवतमधिशब्दमधिभूतं च। तत्राधिदैवतमर्थो ब्रह्मविज्ञाने सिद्धान्तवादे द्रष्टव्यः। इहाधिशब्दं व्याख्यायते। बीभत्सूनां बन्धनमिच्छतां निराश्रयं स्थातुमसमर्थतया परावलम्बनमपेक्षमाणानां क्षराणां व्यञ्जनानां सयुजम् आश्रयदानेन सहयोगिनं कंचिदर्थं हंसं ब्रुवते। स्वातन्त्र्येण स्थातुम-

... अक्षरनाम्नाद् क्षरानर्थानाश्रयो भूत्वा यः स्वस्मिन्नु- ... ... ऽयमैन्द्रवायवग्रहः प्रक्षो ... इति वेदितव्यः ।

"ये अर्वाङ् उत वा पुराणे, वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे, अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसम्"

इति मन्त्रश्रुतौ हंसपदस्य वायुपरत्वावगमात् । प्राणो वायु-रिति श्रुतेः प्राणः स हंसो भवति । प्राण एव त्वक्षरसंज्ञः क्षरान् ... जनवर्णानात्मनि बध्नाति । अथेहाऽप इति वाचः प्रतिपत्तव्याः । "सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोद् यदिदं किञ्च तस्मादापः" इति यजुःश्रुतेः [शत० कां० ६ अ० १ ब्रा० १] तासां दिव्यानां तृतीयस्यामितो दिवि पवमानानां वाचां स... समानभावेऽयं हंसश्चरति । ऐन्द्रवायवेन प्राणेनेयं वाग्, वाचा च... ऐन्द्रवायवप्राणोऽव्यतिरिक्तं रूपं धत्त इति भावः । अष्टवर्णा-त्मिका वागनुष्टुप् । तामनु । इत्थंभूताख्यानेऽयमनुशब्दः कर्म-प्रवचनीयः । अनुष्टुप्छब्देनेहाष्टवर्ण-संनिवेशस्थानरूपा नव बिन्दवो ल... न्ते । नवबिन्दूनभिव्याप्य कृतात्मानमिहाक्षरशब्देन प्रतिपन्नं त... दिन्द्रं प्रज्ञाप्राणं वैज्ञानिकाः स्वमनीषया विचारदृष्ट्या निचिक्यु-र्निर्धारयामासुः । यद्यपि वागेव श्रोत्रेण श्रूयते न प्राणस्तथाप्यक्षरातिम-काया वाचोऽष्टवर्णाविच्छिन्नतया वाचस्तावत्प्रदेशावगाहि... ... दासंभवाद् वाचोऽतिरिक्तं वागालम्बनं कंचिदिन्द्रं नाम प्राणं विद्वांसः स्वबुद्धि-भावनया ददृशुरित्यर्थः ।। इत्थमिदमधिशब्दं व्याख्यातम् ।

... नस्य भूतग्रामस्य वाङ्मयत्वादधिभूतपक्षेऽपि तुल्योऽर्थः । अतएव—

"अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोरषाढं सहस्तन्वि श्रुतो दधे ।
आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः ।।
(ऋ० सं० मं० १ सू० ५५ मन्त्रः ८१)

इति मन्त्रं व्याचक्षाणाऽऽरण्यकश्रुतिः "**सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः ।। तद्यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, एवं**

सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येव विद्याद्"—(ऐ० आ० २।१।६) इत्येवं शब्दाक्षरवद् भूताक्षरेष्वपि बृहतीप्राणात्मकस्येन्द्रस्य तुल्यमभिव्याप्तिमाचष्टे। तदिदं विस्तरतो ब्रह्मविज्ञाने व्याख्यातं द्रष्टव्यम् ॥*॥

॥इति तृतीय. खण्डः ॥३॥

एतच्च सप्तव्यञ्जनं स्वरक्रान्तिमण्डलं सति संभवे व्याख्यातम्। न त्वक्षरत्वप्रयोजकतया सप्तानां व्यञ्जनानामेकान्ततः सद्भावोऽपेक्ष्यते। नवानामर्द्धमात्राबिन्दूनां स्वरूपसद्योग्यतालक्षणतया व्यवस्थितत्वेऽपि फलोपधायकतालक्षणतया सर्वत्रानुपलब्धेः। तथा चोपपद्यते व्यञ्जनात्यन्ताभावे स्वरस्यैव केवलस्याक्षरत्वम्। किन्तु यत्र व्यञ्जनसद्भावस्तत्र तद्विशिष्टस्यैवाक्षरत्वं न तु केवलस्येत्यपि प्रागुक्त न विस्मर्तव्यम्। तत्रापि चैकेनैव व्यञ्जनेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिः सप्तभिर्वा वैशिष्ट्ये स्वरस्याक्षरत्वं द्रष्टव्यम्। न वाक्, प्रागित्यादि॥ इदं पुनरत्रावधेयमीषत्स्पृष्टार्धस्पृष्टैः स्वरच्छायापन्नै रन्तःस्थोष्मभिरुपसर्गोपधानयोः सगर्भत्वे सत्येवेदं स्वरक्रान्तिमण्डलं सप्तबिन्दुकमुपपद्यते। अन्तःस्थोष्मणोरप्रत्यासत्तौ त्वाक्रमणबलं तदपचीयते। [क्त्न ट् प्] इति पृष्ठतस्त्रिषु कतनेषु पुरतष्टपयोर्द्वयोरेव बिन्द्वोराक्रमणबलोपपत्तेः। तदित्थं वर्णविशेषे क्रमणबलतारतम्यमन्वीक्ष्यम्। यथा खल्वस्य क्रान्तिबलं तारतम्येन घटते। एवमाभ्यन्तरस्थानामपि कण्ठादीनामाभ्यन्तरप्रयत्नानां च स्पृष्टादीनामस्ति बले तारतम्यम्, वाह्यस्थानानां बाह्यप्रयत्नानाञ्च। तेन षत्वणत्वकुत्वचुत्वादिका आभ्यन्तरस्थाननिबन्धना उदात्तस्वरितानुदात्तप्रचयादिका बाह्यस्थाननिबन्धनाश्च व्याकरणशास्त्रोक्ताः सर्वेऽपि सन्धिफलविशेषा भवन्तीति नैरुक्तानां समयः। राजसु, वित्सु, रामेषु, हरिषु, हवींषीत्यादौ सकारस्योत्तरस्वराङ्गत्वेऽपि पूर्वस्वरबलाक्रमणतारतम्यानुरोधेन स्थानापकर्षात् षत्वमुपपद्यते। [रामाणां षण्णाम्] इति रषनिबन्धनं णत्वम्। वाक्, स्रक्, रक्तम्, निर्णिक्तमित्यादौ कुत्वम्।

सञ्चरित-सञ्जनादिषु चुत्वमित्येवं स्थानप्रयत्नक्रान्तिबलतारतम्य-निबन्धना विशेषा भवन्तीत्यन्यत्र विस्तरः ॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः ॥४॥

तदित्थमिदमक्षरस्वरूपं व्याख्यातम् । व्याख्यातश्चास्मिन्नक्षरे स्वरव्यञ्जनयोरङ्गाङ्गिभावः । तत्रैतेष्वङ्गेषु व्यञ्जनेपूपसर्गे सत्यसति वोपधानबलस्य कार्य्योपधायकत्वाभावेऽक्षरस्य लघुत्वं वक्तव्यम् । यथा-अ, य, न्य, क्न्य इत्येवमादयः सत्यप्यधस्तात् व्यापारे ऊर्ध्वतो व्यापाराभावाल्लघवः। उपधाने त्वाक्रमणव्यापारस्य बलोपधायकतायामक्षरस्य गुरुत्वं भवतीति सिद्धान्तः । दीर्घस्वराणां सन्ध्यक्षरस्वराणामनुस्वारविसर्गव्यञ्जनान्तस्वराणां व्यञ्जनद्वयसंयोगपूर्ववर्त्तिस्वराणां चोपहितवर्णोपिततया पुरोऽर्कव्यापारसत्वाद् गुरुत्वमुपपद्यते। यथा—आ, ए, ऐ, अं, अः, अत्र, इत्येवमादयः पुरतो व्यापारवत्त्वाद् गुरवः । तथा चेत्थं लघुगुरुभेदादक्षरद्वैविध्यं व्यवतिष्ठते ॥*॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः ॥५॥

"इति श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे अक्षरपरिष्कारः॥ (४)

॥ चतुर्थः प्रपाठः समाप्तः ॥

———

अथ सन्धिपरिष्कारः पञ्चमः प्रपाठः ॥५॥

इदमेवाक्षरमक्षरान्तरेण संवियोगे परस्परेण वन्धनतो हृदयग्रन्थ्युत्पत्तौ क्षरोत्पत्तिहेतुर्भवति । परब्रह्मविद्यायां क्षरभूतानीव शब्दब्रह्मविद्यायां क्षरा व्यञ्जनवर्णाः । इन्द्रियग्राह्यैः क्षरैरनिन्द्रियग्राह्यो वाक्प्राणोऽभिव्यज्यते तस्मादेषां व्यञ्जनत्वम् ॥

(१) निरूपकभेदात् सन्धित्रैविध्यम्

तत्रायं सन्धियोगः परब्रह्मणीव शब्दब्रह्मण्यपि निरूपकभेदाद् द्विविधः ॥ विभूतिः योगश्च । तत्र योगः पुनर्द्विविधः । संश्लेषः; संपरिष्वङ्गश्च ॥ यत्र युक्तयोरेकं योगाय व्यापारवत् स्याद्, बद्धं सत् परतन्त्रं स्यात्, अपरं तु निर्व्यापारमबद्धं स्वतन्त्रमवतिष्ठते । तत्र व्यापिनो व्याप्येऽनुग्रहो विभूतिः । यथाह—

**"अम्भो लवणे वायौ व्योम, मुखे दर्पणे यद्वत् ॥
विभवति तद्वद् विरजा भूतग्रामेऽव्ययः परमः ॥१॥"** इति

क्षरेष्वक्षरो विभवतीति नियमादिह व्यञ्जनेषु स्वरो विभवति । यथा 'स्त्र्यर्क्ट्' शब्देऽकारश्चतुर्षु पूर्वेषु त्रिषु चोत्तरेषु व्यञ्जनेष्वालम्बनतया विभवन् दृश्यते ।१। क्षरेषु चान्यतरस्यान्यतरस्मिन् विभूतिः । यथा रामाणां वर्ष्मणामित्यत्र मूर्द्धन्ययो रषयोः प्रयत्नमहिम्ना दन्त्यो नकारो मूर्द्धन्यतामापद्यते ।।२।। अथैतेष्वेव स्थानेषु व्याप्यस्य व्यापिनि योगः संश्लेषः ॥ तमेकतो बन्धयोगमाचक्षते ।

**"अम्भसि लवणं, वायुर्व्योम्नि मुखं दर्पणे यद्वत् ॥
श्लिष्यति तद्वद् विरजसि भूतग्रामोऽव्यये परमे ॥१॥"**

एवमिह व्यञ्जनान्यबद्धे स्वरे संश्लिष्टानि बद्धानि ।।३।। क्षराणां चैकस्यान्येन संश्लेषः ॥ तत्र संश्लेषणाद्व्ययोगादेकस्यान्येन बन्धनमात्रं न त्वन्यस्मिन्नन्यस्यानुप्रवेशः ॥ एतदभिप्रायेणैवाह भगवद्गीतायाम्—

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः ॥६।४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥६।५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ॥
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६।६ ॥इति॥

मत्स्थानीति संश्लेशात्मकमेकतो बन्धनमाह ॥

नचाहं तेष्विति परस्य तत्रात्रन्धनमाह । न च मत्स्थानीति-समन्वयलक्षणानुप्रवेशप्रतिषेधमभिप्रैतीति विवेक्तव्यम् ॥*॥

(२) व्यञ्जनभेदात् संश्लेष-साप्तविध्यम् ॥

स हि संश्लेषो व्यञ्जनभेदात् सप्तविधो याज्ञवल्क्येन स्मर्य्यते ।

अथ सप्तविधाः संयोगपिण्डा :—

"यमान् विद्यादयस्पिण्डान् सान्तःस्थान् दारुपिण्डवत् ॥
अन्तःस्थयमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत् ॥१॥
अन्तःस्थयमसंयोगे विशेषो नोपलभ्यते ॥
अशरीरं यमं विद्यादन्तःस्थं पिण्डनायकम् ॥२॥
ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृन्मयान् ॥
सोपध्मान्वायुपिण्डांस्तु जिह्वामूले तु वज्रिणः ॥३॥

अग्निः पत्क्नीत्ययस्पिण्डः ॥१॥ अत्र पञ्चमापञ्चमयोर्मध्यवर्तिनो विच्छेदस्याशरीरत्वाद्विशेषानुपलब्धिः ॥ सत्यम् । अश्वः । त्विल्मिने । इति दारुपिण्डः ॥२॥ अत्रान्तःस्थानां लघुप्रयत्नतरत्वादात्यन्तिक-संनिकर्षेण पिण्डनायकत्वाद्विशेषानुपलब्धिः ॥ अश्मन् । कृष्णः । अस्मै-इत्यूर्णापिण्डः ॥३॥ ब्रह्म । वह्निः । गृह्णामीति ज्वालापिण्डः ॥४॥ संस्थाम् । सधंस्तुप् । सिंह्यसीति—मृत्पिण्डः ॥५॥ द्यौष्पिता इति वायु-पिण्ड. ॥६॥ इष्कृतिः—इति वज्रपिण्डः ॥७॥

(३) वीर्य्यभेदात् संपरिष्वङ्गद्वैविध्यम्

अथ वीर्य्यभेदात्संपरिष्वङ्गः स चान्योन्यतो बन्धनरूपः। अक्षरस्याक्षरेण योगः संपरिष्वङ्गः। यथायं शारीरको विज्ञानात्मा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो भवति; एवमेकः स्वरः स्वरेणान्येन सन्धीयते। यथा नदीर्ध्वमानुदय इत्यादौ स्वरद्वयसंपरिष्वङ्ग.। दिव्यस्ति, दिक्ष्वस्ति, दात्रर्थि इत्यादिषु परस्वरेणेकारादीनां योगः॥ तत्रेदं त्रयं संभाव्यते। दम्भनेन समञ्चन भवतीत्येकमात्रस्यार्द्धमात्रत्वं निष्पद्यते॥१॥ अथवा अन्योन्यस्याङ्गप्रवेशो भवतीत्यत इकारस्य पादे विन्दावकारपञ्चमविन्दुः प्रविशादकारस्यार्द्धमात्रमवशिष्यते॥२॥ अथवा संहितयोरुभयोरन्यतरस्य वाऽङ्गक्षतं भवतीत्यत इकारस्याकारे युज्यमानस्य परमर्द्धमात्रमावृश्च्यते इति पूर्वार्द्धमात्रमवशिष्यते॥३॥ एतेषु फलतो विशेषो नास्तीत्यस्तु यद्वा तद्वा॥

"**इग्यणः संप्रसारणम्**"—इति ब्रुवतो भगवतः पाणिनेस्तु समञ्चने पक्षपातः। समञ्चितस्यैव संप्रसारणसंभवात्। अनुप्रविष्टस्य तूद्धरणमवक्ष्यत्। क्षतस्य वाऽनुसंपत्तिमवक्ष्यत्। श्रुतिरपि समञ्चनप्रसारणयोरेवानुजानीते। श्रूयते हि सार्वाग्निपाग्निविद्यायाम्—

> **"अथातः समञ्चनप्रसारणस्यैव। पशुरेष यदग्निः।**
> **यदा वै पशुरङ्गानि संचाञ्चति प्र च सारयति।**
> **अथ स तैर्वीर्य्यं करोति। प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्।**
> **यस्मिन्वा अङ्गे प्राणो भवति तत् संचाञ्चति प्र च सारयति"**॥इति।

[शत० ६।१।१४]

एतेन परब्रह्मणीव शब्दब्रह्मण्यपि वाक्प्राणस्य समञ्चनप्रसारणाभ्यामेव व्यञ्जनस्वरसिद्धिरवकल्पते। तथाहि—व्यञ्जनानां संप्रसारणात् स्वरत्वं संपद्यते। स्वराणां तु समञ्चनात् व्यञ्जनत्वं भाव्यते॥ तच्चेदं समञ्चनं स्वरद्वयसंपरिष्वङ्गादियोगविशेषादेवोपपद्यते॥

(४) योगभेदात् संधिद्वैविध्यम्

अथ संनिकर्षभेदात् सन्धिर्द्विविधः। संक्रान्तिः, संहिता चेति। तथाहि पूर्वोक्ता विभूति-संश्लेष-संपरिष्वङ्ग-लक्षणास्त्रिविधा योगाः शाब्दिकनये सन्धिशब्देनाख्यायन्ते। अथ तत्र विभूतिरेका व्यवायसहा भवति सा संक्रान्तिः। संश्लेषसंपरिष्वङ्गौ तु शब्दविद्यायां संहितानाम्नाख्यायेते। यथाह कात्यायनः प्रातिशाख्ये—

"वर्णानामेकप्राणयोगः संहितेति ॥"

स चैकः प्राणः स्वरस्य क्रान्तिमण्डलमनुष्टुप्छन्दः ॥

"प्राणा वै देवा वयोनाधाश्छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः—इति श्रुतेः। (शत० ६।१ प्र०।६ब्रा०) ॥

प्राणविशेषस्यैवावच्छेदकतायां छन्दस्त्वसिद्धेः एकप्राणयोगो व्यवायेऽपि संभवतीति तत्प्रत्याख्यानाय पाणिनिः—"**परः सन्निकर्षः संहितेत्याह।** कः परः सन्निकर्ष इति चेत् स्वारसिकार्द्धमात्राकाल-मात्रव्यवायेनोच्चरणं संहितेति केचिदाहुः। तदसत्। अवग्रहादौ पदद्वय-योगेऽर्द्धमात्राकालप्रतिपत्तावपि वर्णद्वययोगे तावद्विच्छेदानुभवा-भावात्। तस्मादर्धमात्रातोऽप्यल्पकालोऽवकाशः संहिता। द्वयो-र्वर्णयोर्वर्णान्तरेणाविच्छेदः संहिता। वर्णान्तरान्तरितयोस्तु वर्णयोः संनिकर्षः संक्रान्तिः। सोऽयं संक्रान्ति-संहिताभेदाद् द्विविधः सन्धिर्व्याख्यातः।

(५) आश्रयभेदात् संधिद्वैविध्यम् ॥

अथ आश्रयभेदात् सन्धिः पुनर्द्विविधः। स्वरसन्धिर्व्यञ्जनसन्धिश्च। स्वरसन्धिः संहितायामेवोपपद्यते। न तु संक्रान्तिसन्निकर्षे व्यवायसहे। तत्रैकमात्रिकस्वरस्य पूर्वार्द्धमात्रा पञ्चमबिन्दुः, परार्द्धमात्रा षष्ठबिन्दुरिति संज्ञायेते ॥ तथा च पूर्वस्वरषष्ठबिन्दोः प्रत्ययस्वरपञ्चमबिन्दुत्वापत्ति-रक्षरयोः संहिता। स स्वरसन्धिः ॥ अन्याक्षरनिगृहीतव्यञ्जना-नामन्याक्षरेण निग्रहणं व्यञ्जनसन्धिः ॥*॥

(६) अथ बलभेदात् सन्धिद्वैविध्यम्

स्वरव्यञ्जनसन्धिभ्यां वर्णगुणातिरेको भवति । अन्यथा सतोऽन्यथाभावोऽतिरेकः । वर्णोपादानभूते वायौ वर्णस्वरूपविशेषोत्पत्त्यनुकूलं बलं वर्णगुणः । बलं द्विविधम् । आरम्भकं विशेषकं च । वर्णस्वरूपोत्पत्तौ विनियुक्तं बलमारम्भकम् । तत् पञ्चधा—स्वरोपधायकम् ॥१॥ अङ्गोपधायकम् ॥२॥ स्पर्शोपधायकम् ॥३॥ स्थानोपधायकम् ॥४॥ नादोपधायकं चेति ॥५॥

स्वरोपधानाद्—अ अ अ—इत्यनुदात्तस्वरितोदात्तभेदादकारत्रैविध्यम् ॥१॥ अङ्गोपधानाद्—अ आ आ ३ । इत्येतेषां ह्रस्वदीर्घप्लुतानामेकैकाक्षरत्वम् ॥ व्यञ्जनानां च स्वराङ्गत्वं स्वरोच्चारणाधीनोच्चारणत्वम्, सव्यञ्जनस्वरस्यैकाक्षरत्वं च ॥२॥ स्पर्शोपधानाद्-अ ऽ अ ङ ग क ह—इत्यादयो धाराः ॥३॥ स्थानोपधानात्-अ इ उ ऋ लृ—इत्यादयो धाराः ॥४॥ उपांशुवाग्रूपायां मध्यमायां वाचि नादोपधानाद् ध्वनिप्रसङ्गाद् वैखरी वाक् प्रवर्तते ॥५॥

अथैतेष्वेव पञ्चसु बलेषु विनियुक्तं बलं विशेषकम् । तत् पञ्चधा-उपजनकम्॥१॥ उपघातकम्॥२॥ विक्षेपकम्॥३॥ विशेषाधायकम्॥४॥ निरोधकं चेति ॥५॥

प्रयत्नोपजनाद् वर्णागमः । प्रयत्नोपघाताद् वर्णलोपः । प्रयत्नविश्लेषाद् वर्णविपर्ययः । विशेषाधानाद् वर्णादेशः । एषां चतुर्णां निरोधात् प्रगृह्यत्वम् । तच्च विकारप्रतिबन्धात् प्रकृतिभावः-स्वरूपेणावस्थानम् ॥

इत्थं चारम्भकबले विशेषकबलतारतम्यानुरोधाद् व्यवेतस्याव्यवेतस्य वा बलवतो व्यञ्जनस्य गुणैः प्रतिबाधिता दुर्बलस्य गुणा निवर्तन्ते ।

आक्रममाणाश्च बलवद्गुणाः स्थानं लभन्ते । तेनैतानि पञ्चविधानि सन्धिफलानि जायन्ते ; यथाहुः—

"वर्णागमो वर्णविपर्य्ययस्तल्लोपस्तदादेश इमे विकाराः ॥
स्थितिः प्रकृत्येति च पञ्च सन्धेः फलानि वर्णद्वयसंनिकर्षे ॥१॥"

१- आगमो यथा ॥

संयोगा...शब्दे...: शब्दोत्पत्तिमाह ... ...ादः ॥ तथाच—स्वरपूर्वो नासिक्येतरः स्पर्शः पदान्तोऽवसानेऽपदान्तश्च व्यञ्जनप्रत्यये पूर्वस्वरेणाक्रान्तो भवति ॥ तत्र पूर्वस्वरोऽभिक्रमते ॥ तेन बलवत्संयोगजवर्णसदृशः प्रतिध्वनिरूपो विभागजो वर्णः प्रादुर्भवति स क्रमजो नामोपजनः पराङ्गं स्यात् ॥

यस्य ...ब्द्योच्चारणहेतुभूतं पूर्वस्वरेण ...हणं क्रमणम् ॥ रामन्नुत् । ...त्सः । आल्त्मा । सत्त्यम् । शक्... । आतनच्च्मि । सज्ज्... ।१।

हकारश्रुत्वे क्रमजस्य पराङ्गत्वेन तद्योगा... सोष्मवर्णसिद्धिः । वाग्घस्ती । षड्ढस्ती । तद्धस्ती । ककुब्भस्ती ॥२॥

ङणनानां तु ह्रस्वस्वरपूर्वाणां स्वरोदयत्वे स उपजनः पराङ्गम् ॥ प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ॥३॥

स्वरभक्त्युदयत्वेऽप्यसति विरोधे स्वरोदयवत् सन्धिफलम् । अस्ति ह्यूष्मणां स्वरभक्त्या... । अर्शः । आर्षभ । अर्हः । ह्लादः । ह्लादः । श्च्योतते । स्त्यानम् । स्त्री । श्रेयान । स्थितिः । इत्यादि-पूष्मोच्चारणात् प्राक् स्वरभक्त्या ...रेकाराद्यातनन आभासमान-त्वात् । तेन प्राङ्क्षष्ठः । सुगण्ट्षष्ठः । मन्त्सः । सन्त्छम्भुरित्यादौ क्रममाणानां ङणनानां विभागजोपजना ङणना एव जायन्ते । किन्तु तेषां पराङ्गतया तेभ्यो नासिक्यतापादकयत्नो निवर्तते । संनिकृष्टाना-मुष्मणां नासिक्यप्रतिपन्थिगुणशालितया तेन नासिक्यगुणस्य प्रति-रुद्धत्वात् ।४।

सकारस्य नित्यदन्तस्थानत्वेन विवक्षया प्रगृह्यत्वम् ॥ तत्र दन्त्यता-गुणप्राबल्यात् तत्प्रत्ययत्वोपजातस्य टस्य दन्त्यत्वम् ॥ षट्त्सुखिनः । षट्त्सन्तः ।५।

स्वरपूर्वाभ्यां रहाभ्यां परस्मिन् हभिन्नेऽनुष्मान्तस्थोदये व्यञ्जने

पूर्वस्वरः क्रमते न क्रमते वा। तर्कः, स्वर्गः, गर्ज्जः, ब्रह्म, न ह्यस्ति। उच्चारणातिरेकोऽयमैच्छिकः सांप्रदायिको वा द्रष्टव्यः। उष्मान्तःस्थपरत्वे तु न क्रमते। कार्त्स्न्यम्। स्वर्ग्यम् ॥६॥

छकारेतरसोष्मस्पर्शे पराङ्गत्वं प्रबलमिति नात्र पूर्वः स्वरः क्रमते। मखः। मघा। शठः। अथ। वधः। सभा। छकारे तु पराङ्ग-स्पर्शे निसर्गात् पूर्वस्वरोऽपि क्रमते—इति क्रमजश्चकारोऽयमुष्मणा युज्यते। स्वच्छाया। शिवच्छाया। विच्छिद्यते। पदान्तदीर्घस्वरात्तु पदान्तयत्या विच्छेदादिदं क्रमणं निवर्तते, अनुवर्तते वा। सा च्छाया आच्छादयति। माच्छिददित्यादौ त्वैकपद्यविवक्षेति न विकल्पः।७।

यद्यपीदमुपजनवैचित्र्यं व्यञ्जनद्वयसंधाने व्यञ्जनगुणप्रकृति-निबन्धनमेवोपपद्यते, तथापि तादृशप्रकृत्यनुकूलमुच्चारणमुच्चारयितृ-संप्रदायविशेषादेवोपकल्पते। आच्छादयति माच्छिदिदित्यादौ चकारो-पजनस्य सांप्रदायिकोच्चारणप्रकृत्यैवोपपन्नत्वात्। क्वचित्पुनरेष क्रमजो-पजनो विवक्षाधीनो नैकान्तिकः। क्रमणस्योच्चारणविशेषाधीनतया सांप्रदायिकत्वात्।

अतएव दीर्घाद् द्वित्वं नास्तीत्याचार्य्य उपवर्षो मन्यते। इन्द्रः राष्ट्रमित्यादौ ह्यधिकव्यञ्जनयोगे द्वित्वं नास्तीति शाकटायनः। सर्वत्र-द्वित्वं नास्तीति शाकल्यः। एते च क्रमजोपजनाः सांप्रदायिका अपि वर्णप्रकृतिसापेक्षाः सन्तीत्याख्याताः॥

केचित् पुनर्वर्णप्रकृतिनिरपेक्षाः केवलं भाषाव्यवहर्तृप्रकृतिसापेक्ष-तया व्यवहारविशेषादागमा भवन्ति। यथा—

"विश्ववाड्मुड्धुगित्यादौ हकारात् प्राग्डगागमः॥
गर्भ उद्ग्राभनिग्राभौ संजभारेति वागमः॥१॥

ईरेरिणौरादौ अकारागमः स्वैरः स्वैरी। तृतीयासमस्तस्याकारा-द्ऋते, "प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे" उपसर्गाच्चाकारान्ताद् ऋकारादिधातुवृत्तेष्वकारागमः।

सुखेन ऋतः सुखार्तः ।। प्रार्णम् । प्राच्छंतीत्यादि । ते चैते पदनिबन्धना उपजना इहोपेक्ष्यन्ते ।।१।।

२- अथ लोपः ।

प्रयुगमिति वक्तव्ये उच्चारणदोषाद् यलोपः । प्रउगम् ।।१।।

उत् स्निगिति वक्तव्ये उदो दलोपः । उष्णिक् ।।२।।

"उदः स्थास्तम्भोः प्रयत्नोपघातात् सलोपः ।" उत्थानम् । उत्तम्भनम् ।।३।।

अवसाने "संयोगान्तस्य लोपः" । अथशब्दे थकाराकारस्य विपर्य्ययात् पदादित्वे पदान्तस्य हस्य प्रयत्नप्रतिबाधाल्लोपः । आत् । स्वतन्त्रनिपातत्वे पर्य्यायपरिवृत्तिसहोऽयम् ।

"आद्रात्री वासस्तनुते"—इत्यत्र अथ रात्रीति वक्तुं शक्यत्वात् । पञ्चमीविभक्तिनिपातत्वविवक्षायां त्वयं पर्य्यायपरिवृत्यसहो भवति देवात् । स्मनिपातेन सयुक्त्वे यस्मात्तस्मादित्यादौ सर्वनामान्तस्तकारः प्रयत्नक्लेशाल्लुप्यते ।।४।।

व्यञ्जनादुत्तरेषां नासिक्यान्तःस्थानां नासिक्यान्तःस्थपरत्वे लोपः ।। शय्या—इत्यत्र प्राकृतयोर्यकारयोरेकः क्रमजे तृतीये यकारे विलुप्यते।। अदितेरपत्यमादित्य इत्येको यकारः स क्रमजे यकारे विलुप्यते। आदित्यदेवताकः स्थालीपाक आदित्य इति द्वौ यकारौ, तौ क्रमजे तृतीये विलुप्येते ।। संख्यातानुदेशान्नेह-तन्म्नानम् ।।५।।

नासिक्यान्तःस्थेतरेषां तु व्यञ्जनादुत्तरेषां सवर्णव्यञ्जनपरत्वे लोपः । मरुत्तः; प्रत्तामवत्तम् इतिद्वयोस्तकारयोरेकः क्रमजे तकारे लुप्यते । नेह संख्यातानुदेशः । तेन शिण्ढि, पिण्ढि—इति ढकारे डकारो लुप्यते । ग्रन्थ् धातोस्तुप्रत्यये तलोपाद् ग्रन्थुरित्यादयोऽप्युन्नेयाः ।।६।।
इ ए परस्य यस्य, उ ओ परस्य वस्यानभिव्यक्तिः । नरयीश्वरो नर ईश्वरः । योन्यायीश्वरः, योन्या ईश्वरः । भो एको, भोयेकः । हरयेकः हरएकः । त्वोतासः तोतासः । इत्येतेषु द्वयोर्द्वयोः साम्येनोच्चारणम् । "अत्र **"व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य" ।।१।। "लोपः शाकल्यस्य ।।२।।" "ओतो गार्ग्यस्य ।।३।।"** इति त्रयः संप्रदायभेदाः ।। भोयेको हरयेकः

इत्युभयत्र यकारस्य स्वरधर्म्मितया श्रवणं शाकटायनो मन्यते । भोएको हरएकः—इत्युभयत्राश्रवणं शाकल्यो मन्यते ॥ गार्ग्यस्तु भो एक इति लोपं, हरयेकइति लघुप्रयत्नतरयकारं पश्यति ॥७॥

त्र्यृचशब्दे रयानभिव्यक्तिर्लोके, छन्दसि तु लोप-तृचम् । त्र्यृपिरिति रयानभिव्यक्तिः ॥८॥

३- अथ विपर्य्ययः ।

अक्षवाहिनी, प्रवाह, प्रवाढ प्रवाढोति प्राप्ते वाऽक्षरविशकलनात् सिद्धानाम्—उ अ अ—इत्येतेषां विपर्य्ययेण सन्धौ अक्षौहिणी-प्रौह-प्रौढ-प्रौढिसिद्धिः ॥१॥

स्थिरशब्दोष्मणः स्वरभक्तेर्विपर्य्ययेण सकारादुत्तरत्वे प्रयत्नदोषात् सस्वरभक्त्योस्तालव्यत्वे शिथिरशिथिलशब्दसिद्धिः। अथवा श्रथश्लथान्त स्थयोर्विपर्य्ययेण शथर-शथल संपत्तौ प्रयत्नदोषादिकारद्वयोपनिपातः। शिथिरः शिथिलः ॥२॥

पश्यकशब्दे पकयोर्विपर्य्ययेण कश्यपत्वम् ॥ शययोर्विपर्य्ययेण जाते प्रयत्नप्रतिबाधेन यकारस्य स्पर्शोत्कर्षाज्जत्वचत्वाभ्यां शस्य तु स्पर्शोत्कर्षाच्छत्वे कच्छपशब्दो निर्वृत्तः ॥ कशामर्हति कश्योऽप्येवं कच्छोऽभवत् ॥३॥

अथशब्दे पदान्ताकारस्य पदादित्वेन विपर्य्यये आच्छब्दो निपातः ॥४॥

एवपदादेः सन्ध्यक्षरस्य पदान्तत्वविपर्य्यये वैशब्दसिद्धिः ॥५॥

अनश्व इति अन् शब्दो नविपर्य्ययसिद्धः ॥६॥

कृती छेदने इत्यस्मात् उप्रत्यये कर्तुरिति वक्तव्ये ककारतकारयोर्विपर्यासे तर्कुरिति, तुशब्दे तकारोकारयोर्विपर्यासे उत् इति भृधातोर्मनिन्प्रत्ययान्निष्पन्ने भर्मन् शब्दे बकारोत्तरवर्तिनोः हकारे-

फयोः स्थानविपर्यासे ब्रह्मन् इति, ओम् शब्दे अ उ म् इत्येतेषु वर्णेषु अकारस्य उकारस्य च विपर्यासे वम् इति च निष्पद्यते । तदुक्तम्-

''ओमोऽकारोकारयोर्वम् परस्परविपर्य्ययात् ॥
मर्मणो हरयोर्ब्रह्म परस्परविपर्य्ययात् ॥१।६॥
बहोर उत्वमैत् सोऽभूद्धातपरो भूरभूदयम् ॥
धातुस्ततोऽभूद् भूर्भूमिर्भूमा भूयान् बहुं ब्रुजन् ॥२।६॥
निर्ग्रन्थुशब्दे रहयोर्निघण्टुः स्याद् विपर्य्ययात् ॥
विक्षेपात् तरयोरेकबिन्दुत्वे स्पर्शनद्रुतेः ॥३।१०॥

४- अथ आदेशः ।

आरम्भके बले यत्र विशेषकबलोदयात् ॥
लोपागमविपर्य्यासबलानां स्युः समुच्चयात् ॥१॥
गुणानां कस्यचिन्नाशः कस्यचिच्चागमः सह ॥
कस्यचिद्वा विपर्य्यासस्तमादेशं प्रचक्षते ॥२॥

विशेषकबलं तावन्नानाविधं भवति । तस्य प्रत्येकबलस्य तारतम्यात् पुनरत्र नानाविध्यं प्रवर्तते । तद्यथा गतिरेकं बलम् । तत्र द्रुतिसमश्रुतयो विशेषाः स्युः । उरः कण्ठः शिर इति त्रीणि सवनस्थानानि । तद्व्यापकं बलं स्वरोपधायकं नाम । तत्र विशेषकबल-तारतम्याद् विशेषाः । यथा उदात्तस्वरितयोः प्रकृतत्वे द्रुतिगत्याऽनुदात्तत्वम् । अनुदात्तोदात्तयोः समगत्या स्वरितत्वम् । अनुदात्तस्वरितयोः प्रद्रुतिगत्योदात्तत्वम् । अथ सन्धारणमन्यद्बलम् । तेन स्वरोपधाने प्रतिसवनं द्वौ द्वौ विशेषौ—निगृहीतमुद्गृहीतं च । तथा च सन्नतरानुदात्तौ । स्वरितप्रचितौ । उदात्तोदात्ततराविति षट् स्वराः स्युः । उरसि नीचैः सन्नतरो निघातः । उरस्येवोच्चैरनुदात्तः । कण्ठे नीचैः स्वरितः । तत्रैवोच्चैः प्रचितः । शिरसि नीचैरुदात्तः । तत्रैवोच्चै-रुदात्ततरः ॥

शिरः	❀	उदात्ततरः——————१
	❀	उदात्तः———————२
कण्ठः	❀	प्रचितः———————३
	❀	स्वरितः———————४
उरः	❀	अनुदात्तः——————५
	❀	निघातः (सन्नतरः)–६
नाभिः	❀	

तारतम्यकृतविशेषानपेक्षायां तु त्रय एव ते स्वरा उपपद्यन्ते। तथा चाह—

॥ उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचान्नीचतरं तथा ॥१॥

अथाङ्गोपधायके बलेऽभिव्याप्तिरेकं विशेषकवलम्। तत्रावच्छेद-तारतम्यं मात्रा नामान्यद्बलमनुवर्त्तते। तथा चैकमात्रो ह्रस्वः। द्विमात्रो दीर्घः। त्रिमात्रः प्लुतः। तदेकं छन्दः। स्वरमात्रमक्षरम्। अथवा व्यञ्जनेनैकेन, द्वाभ्यां, त्रिभिः, चतुर्भिः, पञ्चभिः, षड्भिः सप्तभिर्वाऽवच्छिन्नमक्षरमित्यन्यच्छन्दः ॥२॥

अथ स्पर्शोपधाने विवृत[1] मन्द[2] दुर्योग[3] द्विस्थानिक[4] मृदु[5] तीव्रा[6]-ऽर्द्धसम भेदात् सप्त विशेषाः। समसांमुख्येनावस्थितयोः स्थान-करणयोर्म्मध्येऽवगुण्ठितेन वर्णोपादानभूतप्राणवायुना स्पर्शप्रतिबन्धो विवृतम् ॥१॥ स्थानकरणयोरस्पृष्टयोरेव स्पर्शोन्मुखत्वप्रयत्नतः स्पर्श-मान्द्यम् ॥२॥ तत्रैवात्यल्पमात्रया स्पर्शप्रसक्तौ दुर्योगः। स च करण-वैषम्यात् स्पर्शाऽस्पर्शः ॥३॥ मुखस्थानस्पृष्टस्योपरिष्टान्नासानाडीस्पर्शो द्विस्थानिकत्वम् ॥४॥ मृदुस्पर्शाद् गजडदबाः ॥५॥ तीव्रस्पर्शात् क च ट त पाः ॥६॥ अर्द्धसमत्वं सस्वरभक्तिकत्वादंशतो विवृतमंशतः स्पर्शः ॥७॥ तदित्थमेषां विशेषकवलानां प्रत्यासत्या स्पर्शतारतम्यं घटत इति वर्णान्तरादेशः। यथा—इ उ ऋ लृ—इति नामिनः स्वराः। तेषां विवृतप्रयत्नानां स्थानेऽन्तरतमा ईषत्स्पृष्टा अन्तस्था असवर्णस्वरपरत्वे। दिव्यस्ति। मध्वस्ति। पित्रागमः ॥३॥

स्थानोपधायके च द्रुतिसमप्लुतयो विशेषाः । द्रुतिगत्या प्रथमस्थाने कण्ठे, समगत्या मध्यमस्थाने तालुमूर्द्धदन्तान्यतमे, प्लुतिगत्योत्तमे स्थाने ओष्ठे स्थानोपधायकबलस्यावपातः । मध्यमेऽपि समद्रुत्या तालुनि । समसाम्यान्मूर्द्धनि । समप्लुत्या दन्तेऽवपातः । द्रुत्या तस्य कः—शुष्कः । प्लुत्या च तस्य वः—पक्वः । समसाम्यात् तस्य टः-कृष्टः ॥ एकस्थानिकस्य द्विस्थानिकत्वसाधनात् तस्य नः—वृक्णः, हीनः । प्लुत्या द्विस्थानिकत्वसाधनाच्च क्षामः ॥४॥ क्वचित्तु स्थानप्रयत्नयोरुभयोरपि विशेषाधानात् सिद्धिः ॥ यथा—सरयोः खपरत्वेऽवसाने च विसर्गः । उच्चैः पुनः पुनः ॥१॥ अकारात्परः सः हत्वमापद्योत्वमापद्यते अकारघोषपरत्वे । देवोऽस्ति, देवो गत. ॥२॥ आकारात्तु सस्य हत्वमापन्नस्य विवृत्तिः स्वरघोषपरत्वे । यथा-देवा गच्छन्ति, देवा हसन्ति, देवा आयान्तीत्यादौ । इकारादिभ्यः स्वरेभ्यः परस्तु स रेफतामापद्यते स्वरघोषपरत्वे । यथा-हरिरयं, हरिर्गतः । भानुरयं, भानुर्गतः । उच्चै रयं नीचैर्गतः ॥४॥ स्वरेभ्यो रसयोरघोषपरत्वे तदघोषस्थानीयोष्मा । शिव ᳵ करोति । हरिश्चिनोति । भानुश्चीकते शनैस्तन्वते । उच्चै ᳵ पठति ॥५॥ इत्येवंविधेष्वादेशविकारेषु वर्णगुणा लुप्यन्ते विपर्य्ययन्ते वा इत्यूह्यम् ॥

अथ प्रकृतिभावः

यस्य स्वरूपमेव दर्शयितुमिष्यते । स प्रकर्षेण गृहीतत्वात् प्रगृह्यः । स हि सत्यपि विकारनिमित्तप्रत्यासत्तौ प्रगृहीतत्वादेव न स्वरूपाच्च्यवते । न विकारं गृह्णाति । ई ऊ ए—द्विवचनं प्रगृह्यम् । हरी एतौ, विष्णू इमौ । द्रव्ये इमे । ईषदर्थमवध्यर्थमाकारं त्यक्त्वा एकः स्वरो निपातः प्रगृह्यः । अ. इ. उ. ऋ. लृ. ए. ओ. ऐ. औ । ओकारान्तो निपातः प्रगृह्यः । अहो ईशाः विवक्षानिबन्धनोऽयं प्रकृतिभावो यथाविवक्षं द्रष्टव्यः ॥

इति श्रीमधुसूदन-विद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे सन्धिप्रभेदपरिष्कारः पञ्चमः प्रपाठः ।

पथ्यास्वस्ति

हिन्दी व्याख्या

१ वेद में वर्णमातृका को पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। अतः पथ्यास्वस्ति शब्द का अर्थ वर्णमातृका है। ग्रन्थकार कहते हैं कि[1] शब्द-ब्रह्म के ज्ञान के बिना परब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः परब्रह्म-रूपी अक्षर (अविनाशी) तत्व के ज्ञान के लिए विज्ञानतत्पर श्रीमधुसूदन झा यहां शब्द-ब्रह्म का निरूपण कर रहे हैं।

अनेक प्रकार का वर्णाक्षर-समाम्नाय लोक में प्रसिद्ध है। उनमें से यहां वैदिक वर्णमातृका का प्रधानतया निरूपण किया जा रहा है।

ओष्ठों से ढकी हुई, दाँतों से परिवेष्टित सारे वर्णों को उच्चारण करने में समर्थ वज्ररूपा यह नकुलाकारिणी जिह्वा मुझे सुन्दर शब्दों का उच्चारण करने के लिए प्रेरित करे।

वर्णसमाम्नाय (वर्णमातृका) नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती, स्थान-प्रयत्न-संयोग से उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। इसीलिए महाभाष्य-कार पतञ्जलि ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस उक्ति के द्वारा शब्दों को, अर्थों को, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को नित्य बतलाया है।

२ (१) समान प्रयत्न वाले तथा भिन्न स्थान वाले वर्ण :—

अ	इ	ऋ	ऌ	उ
ऽ	य	र	ल	व
अ़	य़	ड़	ऴ	व़
ग	ज	ड	द	ब
क	च	ट	त	प
ह	श	ष	स	ह

---

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यद्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ मु.उ.

३ (२) समान स्थान वाले तथा भिन्न प्रयत्न वाले वर्णः—

अ	ऽ	अ़	ग	क	ह
इ	य	य़	ज	च	झ
ऋ	र	ड़	ड	ट	ष
लृ	ल	ऴ	द	त	स
उ	व	व़	ब	प	ह

इस प्रकार वैदिक वर्णमातृका के अनुसार ३० शुद्ध वर्ण हैं। इनमें हकार का उच्चारण कहीं कण्ठ-स्थान से तथा कहीं ओष्ठ-स्थान से होता है। अतः स्थान-भेद से उसके दो भेद होने पर भी उच्चारण में कोई भेद नहीं है। अतः 'ह' वर्ण एक ही है इस दृष्टि से शुद्ध वर्ण २९ हैं।

समान प्रयत्न वाले तथा दो स्थानों वाले वर्णः—

४ अँ	इँ	ऋँ	लृँ	उँ—अस्पृष्ट अनुनासिक
०	यँ	०	लँ	वँ—ईषत्स्पृष्ट अनुनासिक
ङ	ञ	ण	न	म—स्पृष्ट अनुनासिक

इस प्रकार अनुनासिक वर्ण १३ हैं। इस प्रकार प्राकृतिक निरूढ (प्रसिद्ध) वर्ण ४२ हैं। इससे भिन्न वर्ण इन्हीं वर्णों के विकार हैं जैसे यौगिक तथा अयोगवाह वर्ण।

५ यौगिक वर्ण स्वर-व्यंजन-भेद से दो प्रकार के हैं। दीर्घ और प्लुत आ, ई, ऊ, ॠ, ए, अय्, ऐ, आइ, ओ, अव्, औ, आउ ये १६ यौगिक स्वर हैं। ये प्रत्येक यौगिक स्वर शुद्ध तथा अनुनासिक-भेद से दो प्रकार के हैं। अतः ३२ यौगिक स्वर होते हैं।

६ वर्गों के द्वितीय वर्ण ख, छ, ठ, थ, फ तथा चतुर्थ वर्ण घ, झ, ढ, ध, भ तथा ढ़ और ळ्ह-ये १२ सांयोगिक व्यंजन हैं। जिनमें उष्म हकार तथा शुद्धस्पर्श-वर्णों का योग है। इस प्रकार मिला कर ३२ + १२ = ४४ यौगिक वर्ण हैं।

७ इनके अतिरिक्त कुछ अयोगवाह वर्ण और हैं। अयोगवाहों में स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, औरस्य उष्मा, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यमों की गणना है। इनमें ऋ, लृ, इ—ये तीन स्वरभक्तियां हैं। आ ꣳ ई ꣳ ऊ ꣳ ये तीन रंग-वर्ण कहलाते हैं।

अं अः ये दोनों क्रमशः अनुस्वार व विसर्ग कहलाते हैं।

१ ह्ल ह्न ये औरस्य उष्मा कहलाते हैं।

ᳵक ᳵ इनमें क और प से पूर्व अर्धविसर्गसदृश चिह्न क्रमशः जिह्वामूलीय व उपध्मानीय कहलाता है।

कुं खुं गुं घुं ये चार यम कहलाते हैं।

उपर्युक्त रीति से अयोगवाह ११ हैं।

स्वरभक्ति

८ ऋ और लृवर्णों में क्रमशः रेफ और लकार के चारों तरफ स्वरभक्ति है। याज्ञवल्क्य ने शिक्षा में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। जैसे—

"ऋलोर्मध्ये भवत्यर्द्धमात्रा रेफलकारयोः।
तस्मादस्पृष्टता न स्याद् ऋलृकारनिरूपणे॥"

अर्थात् ऋ और लृवर्णों में क्रमशः आधी मात्रा रेफ और लकार की है और ये ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। अतः ऋ और लृ को अकारादि वर्णों की तरह अस्पृष्ट नहीं माना जा सकता। ऋकार और लृकार में विद्यमान स्वरभक्ति का सम्प्रदायभेद से चार प्रकार से उच्चारण किया जाता है। कुछ व्यक्ति उस स्वरभक्ति का अकार के समान उच्चारण करते हैं, जैसे ऋषि का रषि। प्राच्य लोग इकार के समान जैसे ऋषि = रिषि। उदीच्य लोग उकार के समान जैसे ऋषि—रुषि। और माध्यन्दिन-शाखा वाले उसका एकार के समान उच्चारण करते हैं जैसे ऋषि—रेषि। इसीलिए "ऋकारस्य तु संयुक्तासंयुक्तस्याविशेषेण सर्वत्रैवम्" इस प्रतिज्ञा-सूत्र में तथा "[२]ऋकारो हल्वियुग्युक् च सैकारश्छन्दसि स्मृतः" इस केशवी के वचन में ऋकार की स्वरभक्ति का एकार के

---

१ तत्र द्वावौरसौ ह्व इति ह्म इति, इस प्रकार याज्ञवल्क्यशिक्षा में ह्व तथा ह्म को ही औरस्य उष्मा बतलाया है न कि ह्ल व ह्न को किन्तु यहां भी 'ह्व' अन्तस्थों का तथा 'ह्म' पञ्चम वर्णों का बोधक है। अर्थात् य, र, ल, व, इन अन्तःस्थ वर्णों के साथ वर्गों के पञ्चम वर्ण ङ, ञ, ण, न, म, के परे होने पर उससे पूर्ववर्ती हकार उरःस्थानीय होता है। इसीलिए टीकाकार श्रीअमरनाथ दीक्षित ने याज्ञवल्क्योक्त उपर्युक्त ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए कहा है—वर्गपञ्चमैरन्तस्थाभिश्च युतो द्विविधो हकारो ह्वसदृशो ह्मसदृशश्च औरसो ज्ञेयः। या. शि. पृ. १५२

२ ऋवर्ण जैसे हल् (व्यञ्जन) से संयुक्त हो या वियुक्त, वेद में उसका उच्चारण एकार का होता है।

समान उच्चारण बतलाया है। जैसे कृष्ण—क्रेष्ण, ऋत्वियः=रेत्वियः, क्लृप्त= क्लेप्त। इन सूत्रों में इकार व उकार के समान उच्चारण का निषेध किया है। उपर्युक्त रीति से अ, इ, उ, ए ये चार अर्धमात्रिक स्वरभक्तियां सम्प्रदायभेद से हैं। इनके उच्चारणमात्र में सम्प्रदायभेद से भेद हैं। लिपि सभी मतों में समान है-ऋ, लृ। क्योंकि उच्चारण के अनुसार लिपि का भेद नहीं बन सकता। अकारादि उच्चारण के समान लिपि में भेद करने पर ऋ के स्थान में र, रि, रु या रे लिपियां होंगी और इन लिपियों में अकारादि स्वर एकमात्रिक हैं जब कि ऋकार और लृकार में विद्यमान स्वरभक्ति [1]अर्धमात्रिक है। अर्धमात्रिक का उच्चारण तो बन सकता है पर लिपि में अर्धमात्रिक अकारादि की पृथक् लिपि नहीं है। अतः लिपि में ऋ लृ ही लिखे जाते हैं। लृकार के उच्चारण में प्रायः लकार के बाद रेफ का उच्चारण और करते हैं। जैसे लृलि। पर यह संगत नहीं है क्योंकि लृ में केवल लकार और स्वरभक्ति ही है न कि रेफ।

६ र्ह भी स्वरभक्ति है। र्ह में रेफ लकार का भी बोधक है और हकार ऊष्म वर्णों का बोधक है। अतः यह सिद्ध होता है कि र और ल से ऊष्म-वर्ण के परे होने पर दोनों के बीच में स्वर के समान एक ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्वर-भक्ति कहते हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य-शिक्षा में लिखा है—

> "रलाभ्यां परः ऊष्माणो यत्र तु स्युः स्वरोदयाः।
> स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते॥ १॥
> स्वरभक्तिं प्रयुञ्जानस्त्रीन् दोषान्परिवर्जयेत्।
> इकारं चाप्युकारञ्च ग्रस्तदोषं तथैव च॥ २॥

अर्थात् र और ल से परे ऊष्म-वर्ण श, ष, स हों तथा उनसे परे कोई स्वर हो तो वहां दोनों के बीच अर्ध अकार की तरह एक ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्वरभक्ति कहते हैं। इस स्वरभक्ति का उच्चारण पूर्व वर्ण रेफ के साथ होता है। स्वर-भक्ति का प्रयोग करने वाला इकार, उकार तथा स्थान-करणनिष्पीडनरूप ग्रस्तता इन तीन दोषों का परित्याग करे। अर्थात् स्वरभक्ति का उच्चारण न अर्ध इकार की तरह, न अर्ध उकार की तरह और न स्थान व करण का निष्पीडन

१ 'स्वरभक्ति' शब्द का अर्थ ही स्वर का भाग है न कि पूर्णस्वर। अतः वह अर्धमात्रिक ही होती है न कि अकारादि स्वरों की तरह एकमात्रिक।

करते हुए करे अपितु अर्ध अकार या एकार की तरह करे। इसीलिए--"[1]अथापरान्तस्थस्यायुक्तान्यहलः संयुक्तस्योष्मऋकारैरेकारसहितोच्चारणमेवं तृतीयान्तस्थस्य" इस कात्यायनीय प्रतिज्ञासूत्र में स्वरभक्ति का उच्चारण एकार की तरह बतलाया है। इसी प्रकार '[2]अहल् शल्पूर्व्वे रेफस्य सैकारः प्राक् च' इस नवाङ्कसूत्र में, '[3]विहल् शल्यूर्ध्वरेफो यःसैकारः प्राक् समुच्चरेत् इस केशवी-वचन में '[4]रेफो रेकारमाप्नोति शषसहेषु परेषु च' इस माध्यन्दिनीय वचन में भी यही बात बतलायी गयी है।

"रलात्वृल्वर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र" इस प्रातिशाख्य के अनुसार रेफ और लकार से परे उष्म-वर्णों के होने पर दोनों के मध्य अर्धमात्रिक ऋकार और लृकाररूप स्वरभक्ति का व्यवधान है। रेफ और उष्मवर्णों के बीच विद्यमान उस स्वरभक्ति का उच्चारण रेफ और लकार की तरह होता है अर्थात् ऐसे स्थान में द्विरुक्त रेफ और द्विरुक्त लकार का सा उच्चारण होता है। जैसे—अर्शः—अर्रशः, वल्शा—वल्लशा इत्यादि उदाहरणों में स्पष्ट है। इस प्रकार रेफ, लकार और उष्म-वर्णों के मध्य स्वरभक्ति का उच्चारण अकार की तरह, एकार की तरह, और द्विरुक्त रेफ व द्विरुक्त लकार की तरह मतभेद से उच्चारण होता है। किन्तु अथर्ववेदीय इस स्वरभक्ति का उच्चारण इकार की तरह करते हैं। जैसा कि माण्डूकी शिक्षा में कहा है—"सम्यगेनां यदा पश्येत् शतवल्शिशेति निदर्शनम्"। ऋग्वेदीय इसका उच्चारण उकार की तरह करते हैं जैसे धूर्षदम् = धूरुषदम। जहाँ उष्म-वर्णों से परे स्वर होता है वहीं इस स्वरभक्ति का उच्चारण होता है और जहाँ व्यंजन होता है वहाँ नहीं। जैसे वर्ष्म शब्द में उष्म से परे 'म' व्यंजन के होने से रेफ और 'ष' के बीच स्वरभक्ति का उच्चारण नहीं होता[5]।

---

१ अन्य हल् वर्णों से असंयुक्त तथा श ष स ह ऋकार वर्णों से संयुक्त अपरान्तस्थ(र) तथा तृतीयान्तस्थ(ल) वर्ण का एकार-सहित उच्चारण होता है।

२ हल् (व्यञ्जन) रहित शल्प्रत्याहार (श, ष, स, ह,) परे होने पर उनसे पूर्व रेफ का एकार सहित उच्चारण होता है।

३ हल्-रहित शल् प्रत्याहार परे होने पर उससे पूर्व रेफ का एकारसहित उच्चारण होता है और वह एकार पूर्ववर्ती रेफ का अङ्ग होता है।

४ श ष स ह --इन वर्णों के परे होने पर रेफ का रेकार की तरह उच्चारण होता है।

५ इस तथ्य का प्रतिपादन याज्ञवल्क्य-शिक्षा में 'स्वरोदयाः' पद से, प्रतिज्ञा-सूत्र में।

रङ्ग

१० 'देवा ँ एह, महा ँ असि' इत्यादि में विशुद्ध आकार से परे नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण रङ्ग कहलाता है। तालुस्थानीय स्पृष्टप्रयत्नीय मृदु अनुनासिक वर्ण नकार के तालु, मृदु व स्पृष्टत्व गुणका नाश होने से अर्धमात्र उस नकार वर्ण के स्थान में अर्धमात्र अनुनासिक-विवृतिरूप अकार शेप रह जाता है। व्यंजन नकार का पूर्व स्वर के द्वारा अनुरंजन होने से नकार की स्वर की तरह प्रतीति होती है। अतः पूर्वस्वररंजन के कारण यह नकार रङ्ग कहलाता है। इसे अनुस्वार नहीं कह सकते क्योंकि अनुस्वारस्थल में स्वर और अनुस्वार का अव्यवधान होने से पूर्व स्वर अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत होता है। जैसे रामं हरिं, आदि में अकार और इकार अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं और रङ्ग-स्थल में रंग का दीर्घ स्वर से पृथक् उच्चारण होने के कारण स्वर उसमें ग्रस्त प्रतीत नहीं होता। अतः यह रंग वर्ण-अनुस्वार से भिन्न है। इसीलिए याज्ञवल्क्य-शिक्षा में कहा है—

"रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन् नो ग्रसेत् पूर्वमक्षरम्।
दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥

रङ्ग वर्ण का प्रयोग करते समय पूर्व स्वर को रंग से ग्रस्त न करे अर्थात् इस प्रकार शीघ्रता से रंग-वर्ण का उच्चारण न करे जिससे रंगवर्ण के कारण पूर्व स्वर में ग्रस्तता आ जावे। उसके पहले दीर्घस्वर का प्रयोग करे, पश्चात् नासिक्य रंगवर्ण का उच्चारण करे।

अनुस्वार

१३. अं, यहाँ पर स्वर के बाद नासिका मे उच्चार्यमाण वर्णअनुस्वार है।

'अयुक्तान्यहलः' पद से, नवाङ्कसूत्र में 'अहल्-शलि' में 'अहल्' पद से, 'विहल्-शलि' इत्यादि केशवीवचन में विहल् पद से किया गया है। 'स्वरोदयाः' का अर्थ है—शकारादि उष्मवर्णों के बाद स्वर होना चाहिए न कि हल्-वर्ण। 'अयुक्तान्यहलः का अभिप्राय है कि शकारादि उष्मवर्ण हल् (व्यंजन) वर्णों से युक्त नहीं होने चाहिएँ। अहल् तथा विहल् पद का भी यही अभिप्राय है कि शकारादि वर्ण हल्-रहित होने चाहियें, अर्थात् उनका संयोग किसी व्यंजन से नहीं होना चाहिए।

यहाँ अनुस्वार की नकार की तरह प्रतीति होती है। किन्तु नकार मृदुस्पृष्ट वर्ण है जब कि अनुस्वार ईषत्स्पृष्ट वर्ण है। अतः यह नकार से भिन्न वर्ण है। श, ष, स, ह इन वर्णों के परे होने पर अनुस्वार का उच्चारण तीन प्रकार का होता है। यहाँ अनुस्वार का नकार-ध्वनि के समान उच्चारण बह्वृच (ऋग्वेद वाले) करते हैं जैसा कि पाणिनिशिक्षा में कहा है—[1]'श, ष, स, ह के परे होने पर तूंबीवीणा के शब्द के समान दन्तमूलमात्र से उच्चारित होने वाले स्वरपश्चाद्-भावी अनुस्वार का उच्चारण करना चाहिए। जैसे—वंन्शः, कंन्सः इत्यादि में। यहाँ अनुस्वार के बाद जो 'न्' व्यंजन लिखा गया है उसका तात्पर्य यह है कि अनुस्वार दन्त्य-अनुनासिक है, अतः इसका उच्चारण नकार की तरह होता है पर यह नकार नहीं है। अन्य वर्णों के परे होने पर जैसे अनुस्वार का अनुस्वार शब्द से व्यवहार होता है वैसे ही श, ष, स, ह इन वर्णों के परे होने पर अनुस्वार-व्यवहार ही होगा। नकार या गुंवार आदि अन्य नाम इसका नहीं होगा।

१२. छन्दोगशाखा वाले (सामवेदीय) इस अनुस्वार की मकार के समान ध्वनि मानते हैं और व्यवहार के लिए इसका नाम मकार रखते हैं। जैसा कि नारद-शिक्षा में कहा है :

"आपद्यते मकारं रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारः।
यवलेषु परसवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम्॥"

अर्थात् रेफ और श, ष, स, ह के परे होने पर अनुस्वार को मकार होता है, य, र, ल, व परे होने पर परसवर्ण और स्पर्शवर्णों के परे होने पर उसी स्पर्श का पञ्चम वर्ण होता है। अथवा "अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" इस कात्यायन-प्राति-शाख्यसूत्र की एकवाक्यता नारदशिक्षा के साथ मानने पर यहां नारदीयशिक्षा के वचन में भी अनुस्वार को मकार हो जाता है इत्यर्थक "आपद्यते मकारो रेफो-ष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम" यह पाठ मानना होगा। अथवा नारदीय शिक्षा के उत्तर पाठ के अनुसार मकार के स्थान में अनुस्वार का विधान मानने पर भी उसका अभिप्राय यही माना जायगा कि छन्दोग-सम्प्रदाय के अनुरोध से रेफ उष्म आदि

---

१ अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रोः शषसेषु च॥ पा० शि०

वर्णों के परे होने पर अनुस्वार की मकार के सदृश ध्वनि होती है। अतः छन्दोग-सम्प्रदाय के अनुसार 'वंम्शः, कम्मः' ऐसा उच्चारण होता है अर्थात् यहाँ अनुस्वार की ध्वनि मकार के समान है न कि अनुस्वार को मकार ही हो जाता है—यह तात्पर्य है।

१३. उपर्युक्त स्थानों में अध्वर्यु लोग अनुस्वार की ध्वनि मकारसदृश मानते हैं। जैसे— तं (ङ्) रामं (ङ्) रावणारिम्। सिं (ङ्) हः। वं (ङ्) शः। कं (ङ्) सः। कण्ठ्य अनुनासिक होने से अनुस्वार के उच्चारण में ङकार का आभासमात्र होता है न कि यह ङकार हो जाता है। ङकारसदृश ध्वनि की व्यवहार के लिए 'गुं' संज्ञा की गई है। आज-कल तो वेद का उच्चारण करने वाले 'गुं' शब्द का ही उच्चारण करते हैं किन्तु यह उनका अज्ञान है। क्योंकि जिस प्रकार अनुस्वार संज्ञाशब्दमात्र है उसी प्रकार 'कुं खुं गुं घुं' ये भी यमों की संज्ञा-मात्र हैं स्वरूपपरक नहीं। 'स्वरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ शब्द संज्ञा होती है वहाँ शब्द अपने स्वरूप का बोधक नहीं होता है। यमप्रकरण में संज्ञाशब्द स्वरूप का बोधक होता है, अनुस्वारप्रकरण में नहीं, ऐसा भ्रम करना असंगत है, क्योंकि जो अर्थ एक जगह माना जाता है वही अन्यत्र भी मानना चाहिए। अतः एक शास्त्र में जब निर्णय कर लिया गया कि शब्दसंज्ञा अपने स्वरूप का बोधक नहीं तो उस शास्त्र में सभी जगह यही सिद्धांत मानना होगा और यदि यमस्थान में गुंशब्द का उच्चारण किया जायगा तो गुंशब्द के द्विमात्रिक वर्ण होने से नियताक्षर छन्द का व्याघात होने से कर्मलोप होने लग जायगा।

> 'मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
> रुद्रः संसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समेधिरे॥
> दृंहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये।
> अंहसः, दंष्ट्राभ्याम्, मा हिंसीः॥'

इत्यादि में गुंशब्द का उच्चारण करने वालों को अभीष्ट छन्द का भंगरूप दोष तथा अर्थबोध में क्लेशरूप दोष का भागी बनना पड़ेगा। प्रकृतिसिद्ध तीन प्रकार के उच्चारणों में एक पक्ष में व्यवस्थापक शास्त्रों का तात्पर्य मानने से वे शास्त्र चरितार्थ हो जाते हैं। अतः उन शास्त्रों का गुंशब्द के उच्चारण में तात्पर्य मानना असंगत है और गुंशब्द के उच्चारण में तात्पर्य मानना शास्त्रानुसारी भी नहीं है।

'अनुस्वारस्यगुमित्यादेशः, शषसहरेफेषु' इस प्रतिज्ञासूत्र में इति शब्द के उल्लेख से गुं-शब्द स्वरूपपरक है संज्ञापरक नहीं। ऐसा आजकल के वेदपाठियों का कथन भी अज्ञानविजृम्भित है। क्योंकि प्रतिज्ञासूत्र में इति शब्द 'कुं खुं गुं घुं यमाः, में उक्त गुंकार का स्मारक है, अतः उसका तात्पर्य स्वरूपपरता में नहीं है। अर्थात् जैसे गुं आदि शब्द यमसदृश उच्चारण के बोधक हैं उसी प्रकार अनुस्वार-शब्द भी अनुस्वारसदृश उच्चारण का बोधक है।

वंशः, हवींषि, कंसः, सिंहः, तं रामम् इत्यादि में अनुस्वार का, नकार, मकार और ङकार इनमें से किसी एक रूप से उच्चारण प्रकृतिसिद्ध है। किसी वेद में नकार-रूप से किसी में मकाररूप से तथा किसी में ङकाररूप से होता है। यह व्यवस्था वेद-भेद से समझनी चाहिए।

४. विसर्ग

१४. अः—यह विसर्ग है। यहाँ अकार स्वरमात्र का बोधक है। स्वर के बाद हकार की तरह प्रतीयमान हकारभिन्न विक्षेपक ध्वनि विसर्जनीय या विसर्ग कहलाती है। जैसे—रामः, अग्नि आदि में। विसर्ग में हकारसदृश ध्वनि है और यह हकार की तरह प्रतीत होता है, पर विसर्ग हकार नहीं है, क्योंकि हकार अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाला है तथा स्वरभक्तिसहित होता है और विसर्ग ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नवाला है तथा स्वरभक्ति से रहित है। अतः विसर्ग हकार से पृथक् वर्ण है। जैसा कि कहा है—[1]'जैसे लघुचित्त वाले छोटे सर्प का उच्छ्वास होता है उस प्रकार की ध्वनि उष्मा में करनी चाहिए और हकार का परित्याग करना चाहिए। यहाँ हकार-परित्याग का तात्पर्य स्वरभक्ति-परित्याग में है। यह विसर्ग हकार से भिन्न है तथापि उष्म शब्द से इसका व्यवहार होता ही है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है कि—[2] ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय, ये ८ गतियाँ उष्मा की होती हैं।

५. औरस्य उष्मा

१५. ह्न ह्ल—ये औरस्य उष्मा कहलाते हैं। यहाँ नकार-मकार और णकार का तथा रेफ-य, व, ल का भी बोधक है। इसीलिये अभियुक्तों ने कहा है कि—[3]

---

१. यथा बालस्य सर्पस्य उच्छ्वासो लघुचेतसः।
एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकारं परिवर्जयेत्॥
२. ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः।
३. हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।

वर्गों के पंचम वर्णों से तथा अन्तःस्थ य, र, ल, व से युक्त हकार औरस्य कहलाता है, तथा इनसे असंयुक्त हकार कण्ठ्य कहलाता है। औरस्य हकार के उदाहरण-पूर्वाह्णः, वह्निः, ब्रह्मा, मह्यम्, ह्रदः, ह्लादः, विह्वलः आदि हैं।

६. जिह्वामूलीय व उपध्मानीय

१६. ᳵ क ᳵ ख में क व ख से पूर्व जो हकार सदृश ध्वनि है, उसे जिह्वामूलीय कहते हैं। ᳶ प ᳶ फ—इस प्रकार प और फ से पूर्व हकारसदृश ध्वनि को उपध्मानीय कहते हैं। क्रमशः क ᳵ कविः, क ᳵ खलः, क ᳶ पटुः, क ᳶ फली इनके उदाहरण हैं।

७. यम

१७. नासिक्यभिन्न स्पर्श से नासिक्यस्पर्श के परे होने पर मध्य में पूर्वसदृश वर्ण जो कि अनासिक्य व नासिक्य में भेद करता हुआ उच्चारित होता है, उसे यम कहते हैं। वे स्पर्शवर्ण स्थान व करण के स्पर्श से उत्पन्न होते हैं, ऐसा स्वभाव है। किन्तु स्पर्शवर्णों के बाद जब यम-वर्ण होता है तो वह स्थान और करण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न होता है और पूर्वस्पर्शवर्ण के सदृश होता है। वह यम अर्थात् स्थान और करण के स्पर्श की विरति या विच्छेद से उत्पन्न होता है, अतः इसे यम कहते हैं। इस प्रकार स्थान-करण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न प्रतिध्वनि यद्यपि पद के अन्त में और अन्तःस्थ वर्ण तथा पञ्चम वर्णों के परे होने पर उत्पन्न होती है। जैसे— रामात्त्, शुक्क्रः, अग्ग्निः इत्यादि में। तथापि वर्गों के पंचम वर्ण के परे होने पर नासिक्यता के वैलक्षण्य के द्वारा यह प्रतिध्वनि यम-नामक पृथक् वर्ण मानी जाती है। जैसे वृक्क्णः, पलिक्क्नी, रुक्क्मम्, रत्त्नम्, आत्त्मा, स्वप्प्नः, पाप्प्मा इत्यादि में द्वितीय स्पर्शवर्ण जो कि अनुनासिक से पूर्व है, यम है। ये यम वर्गों के पञ्चम वर्ण से पूर्व-वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ स्पर्शवर्ण हैं, ये संख्या में २० हैं। अतः २० यम कहलाते हैं ऐसा एकदेशी का मत है। कुछ का कहना है कि क, ख, ग, घ ये चार ही यम हैं। कतिपय आचार्यों का मत है कि द्वित्वसिद्ध चार वर्ण ही यम हैं, तैत्तिरीयों का मत है कि यम वर्ण का आगमरूप है। आर्त्क्नी सक्थ्क्ना, यज्ञः में क और ङ जो कि वर्णागम हैं, यम हैं। 'ङ' रूप यम परे होने पर उसके प्रभाव से ज को ग हो जाता है। अतः यज्ञ-शब्द में गकार ङकार व ञकार का संयोग है। यज्ञ-शब्द में आर्ष उच्चारण के बाहुल्य से यमसहित उच्चारण करने वाला

सम्प्रदाय ही चल गया है। केवल लोक में प्रयुक्त शब्दों में यमसहित उच्चारण करने का सम्प्रदाय नहीं चला है। जैसे —'याच्ञा' शब्द का यमरहित ही उच्चारण होता है। इसलिए यहाँ ङकार यम के अभाव से तत्प्रभावजन्य च को क नहीं हुआ है। कुछ की ऐसी मान्यता है कि 'राज्ञः' में जकार व ञकार के मध्यवर्ती यम जकार को ञ के प्रभाव से प्राप्त तालुस्पृष्ट नासिक्यता के प्रयत्नविरोध द्वारा न होने से उसके स्थान का परिवर्तन होकर द्रुति के कारण ग हो जाता है, और गकार के परे होने से पूर्व जकार को भी ग हो जाता है। यदि यह कहें कि ञकार तालुस्पृष्ट नासिक्य वर्ण जब विद्यमान है तो प्रयत्न का विरोध न होने से ज को ञ होने में क्या आपत्ति है तो यह भी संगत नहीं, क्योंकि ञ के नासिक्य अन्तस्थ वर्ण होने से वह ईषत्स्पृष्टप्रयत्न वाला है और वर्णागम जकार-रूप यम स्पृष्टप्रयत्न वाला है, इस प्रकार प्रयत्न-विरोध विद्यमान है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि न तो बीस यम हैं और न चार और न यम वर्ण ही हैं, किन्तु यम अशरीर है, अतः उसका उच्चारण नहीं होता। अतः [1]अमोधनन्दिनीकार ने स्पष्ट कहा है कि 'संमार्ज्ज्मि' में दो जकार एक मकार और एक मकार के ऊपर विद्यमान रेफ है, अतः यम को अशरीर मानना चाहिए। कात्यायन ने भी कहा है कि पञ्चम वर्णों के परे होने पर पञ्चमेतर वर्ण विच्छेद को प्राप्त होते हैं। यह विच्छेद ही यम है। अत एव यह अशरीर है। अतः 'रुक्क्म' इत्यादि में क को द्वित्व होने पर उसके पश्चात् पञ्चम वर्ण से पूर्व नासिक्य तथा अनासिक्यवर्णों के विरोध के फलस्वरूप दोनों के मध्य यति (विरति, विच्छेद) उत्पन्न होता है। यह विच्छेद ही यम है। अतः यम कोई वर्ण नहीं है।

विभिन्न उच्चारण-सम्प्रदायों के कारण यम के विषय में चार मत हैं। चारों ही मतों में पूर्व अक्षर के होने पर यम होता है अन्यथा नही। अतः सिद्धान्तकौमुदी में यम का जो उदाहरण 'घ्नन्ति' दिया है, उसे 'निघ्नन्ति' समझना चाहिए। अन्यथा पूर्व अक्षर के न होने से वह यम का उदाहरण नहीं बनेगा। ज्ञान-शब्द में यम नहीं है। ज्ञा-धातु में गकार तथा अनुनासिक एवं तालव्य ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाला ञकार है न कि यम। इस प्रकार ९७ अक्षरों का यह आर्ष वर्णसमाम्नाय है।

---

१. जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः।
अशरीरं यमं विद्यात् संमार्ज्ज्मीति निदर्शनम् ॥

कितने ही निरूढ, यौगिक तथा अयोगवाहों से भिन्न ६० औपपादिक वर्ण और मानते हैं। उनको मिलाने से १८७ वर्ण छन्दोभाषा में होते हैं। वे निम्नलिखित हैं।

(२) अ   आ   अ ३
इ   ई   इ ३
उ   ऊ   उ ३
ऋ   ॠ   ऋ ३

इस प्रकार ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से भावी स्वर १४ हैं। लृवर्ण दीर्घ नहीं होता।

(३) ए   ए ३ ॥ ऐ   ऐ ३
ओ   ओ ३ ॥ औ   औ ३

(४) उपर्युक्त दोनों प्रकार के स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद से तीन प्रकार के हैं अतः ६६ स्वर हो जाते हैं। इन सबमें शुद्धस्वरत्व, विवृतत्व तथा अस्पृष्टत्व-साधर्म्य है। लृकार प्लुत भी होता है अतः इसके ३ भेद और इस मत में बढ़ जाते हैं।

(५) रल-पूर्वक उष्मवर्ण तथा ऋ, लृ में स्वरभक्ति भी होतीं है। जैसे—स्पर्शः, हर्षः, अर्हः इनमें रेफ और उष्मवर्णों के बीच स्वरभक्ति है। ऋ और लृ में दो स्वरभक्तियों के बीच रेफ और लकार है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—[1]ऋवर्ण और लृवर्ण में क्रमशः दो रेफ व दो लकार हैं वे मिले हुए हैं।

(६) ऽ य र ल व—ये ५ ईषत्स्पृष्ट, अन्तःस्थ, ईषन्नाद प्रयत्न वाले हैं। इन पाँचों में पहला वर्ण ऽ विवृत्ति है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है :—[2]जहाँ दो स्वरों के मध्य सन्धि नहीं है वहाँ विवृत्ति समझनी चाहिए। य ऽ ईश इसका उदाहरण है।

(७) अ, य, ड़, ळ, व—ये पाँच वर्ण दुःस्पृष्ट अन्तस्थ हैं। इनमें प्रथम वर्ण 'अ' संवृत अकार है। ह्रस्व अकार का परिनिष्ठित (सिद्ध) अवस्था में संवृत प्रयत्न तथा प्रक्रियादशा में विवृत प्रयत्न होता है। किसी ने जो यह कहा है कि प्रउग शब्द में यकारस्थानीय, यकार के विकार से उत्पन्न संवृत अकार है और उकार

१. ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेककर्णौ। का.प्रा. ४/१४६
२ द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ऽ ईशेति निदर्शनम् ॥

यहाँ विवृत है। इसीलिये भिन्न प्रयत्न होने से यहाँ सन्धि नहीं हुई है—वह असंगत है। क्योंकि यकारस्थनीय विवृत्ति मानने पर भी सन्धि का अभाव सिद्ध हो सकता है। अतः सन्ध्यभाव के लिए प्रयत्नभेद मानने की आवश्यकता नहीं।

वस्तुतस्तु 'प्रउगम्' में ईषत्स्पृष्ट यकार को प्लुति-प्रतिक्षेप के कारण वकार हो जाता है और सजातीय उकार से उसका अभिभव हो जाने से अभिव्यक्ति नहीं होती और उसका लोप हो जाता है।

अतः यकार के स्थान में संवृत अकार व विवृत अकार का आदेश मानने की आवश्यकता नहीं है। प्र-शब्द का अकार यहाँ संवृत है और उकार विवृत है। अतः प्रयत्नभेद के कारण सन्धि नहीं होती।

(८) दुःस्पृष्ट य और व की स्थिति पद के आदि में तथा य र ह और अनुस्वार से पूर्व होने पर होती है। दुःस्पृष्ट य, व के उच्चारण में ईषत्स्पृष्ट यकारादि की अपेक्षा अधिक स्पर्श तथा स्पृष्ट वर्णों की अपेक्षा अल्प स्पर्श होता है, अतः इन दोनों प्रकार के वर्णों की प्रतीति यहाँ होती है। जैसा प्रतिज्ञासूत्र में कहा है:— 'अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहल्संयुक्तासंयुक्तस्य रेफोष्मा न्त्याभ्यामृकारेण चाविशेषणादिमध्यावसानेषु उच्चारणे जकारोच्चारणं द्विर्भविऽप्येवम्।' इति

यहाँ लघु प्रयत्नतर यकार का जकार के समान उच्चारण बतलाते हुए कात्यायन को यकार व जकार का मध्यमवृत्ति से उच्चारण अभीष्ट है। नारद ने भी कहा है—[1]

पाद के आदि में, पद के आदि में, संयोग में, अवग्रह में, 'ज' शब्द का प्रयोग करना चाहिए तथा अन्यत्र य-शब्द का उच्चारण करना चाहिये। यहाँ ज-शब्द से—जिसमें जकार की सी प्रतीति होती है ऐसा उच्चारण अभिप्रेत है न कि जकार का उच्चारण ही अभिप्रेत है। यदुः, यमः शय्या, निकाय्यः, सूर्यः, वीर्यम् आदि इसके क्रमशः उदाहरण हैं। आन्तर्य्यम् में भिन्न स्थिति वाले रेफ और यकार के संयोगों के उच्चारणक्रम में जो भेद दिखाई देता है, वह रेफ का पूर्वाङ्गत्व व पराङ्गत्व यकार के ईषत्स्पृष्ट व दुःस्पृष्ट होने में कारण है। जहाँ

---

१. पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च।
जः शब्द इति ज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः। नारद-शिक्षा।

रेफ पूर्वाङ्ग है वहीं यकार दुःस्पृष्ट है। अर्थात् 'आन्तर्य्यम्' में रेफ यकार का तथा यकार मकार का संयोग है। इनमें रेफ जब पूर्व अक्षर का अङ्ग होता है, तब दुःस्पष्ट यकार का उच्चारण होता है और जब रेफ पर अक्षर का अंग होता है, तब ईषत्स्पृष्ट यकार का उच्चारण होता है। मह्य, बाह्यम, अहंयुः, शंयुः इन उदाहरणों में यकार के दुःस्पृष्ट होने पर अनुस्वार अथवा अनुनासिक यकार का उच्चारण होता है, और जो यहाँ यकार को ईषत्स्पृष्ट मानते हैं उनके मत में 'शम्युः' इस प्रकार का उच्चारण होता है।

वरः, वीरः, वाय्वोः, सर्वः विह्वलः, शंवूकः आदि में दुःस्पृष्ट वकार की स्थिति पदादि की तरह पदमध्य में तथा संयोगादि में भी है। देवः, शिवः, काव्यं, भव्यम्, यम्या, यद्यपि इत्यादि में तथा विश्वं, विद्वान् इत्यादि में प्रथम यकार व वकार गुरु प्रयत्न वाले होने से दुःस्पृष्ट होते हैं और द्वितीय यकार-वकार लघु प्रयत्न वाले होने से ईषत्स्पृष्ट हैं।

(९) पद के आदि में तथा संयोग के आदि में दुःस्पृष्ट डकार नहीं होता। डमरुः कुड्यः, वड्ः आदि इसके उदाहरण हैं। कुड्मल आदि में कहीं कहीं स्पृष्ट व दुःस्पृष्ट डकार का विकल्प है। दो स्वरों के मध्य में दुःस्पृष्ट 'ड' का उच्चारण होता है। जैसे निगड़ः में। वेद में दो स्वरों के मध्य में ड को ळ हो जाता है। जैसे 'अग्निमीळे' आदि में। माध्यन्दिन शाखा वालों के लिये यह नियम नहीं है।

(१०) ह, श, ष, स, ह ये पाँच ऊष्म-वर्ण ईषद्विवार तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। इनमें आदि और अन्त के हकार क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हैं। जिह्वामूलीय तथा कण्ठ्य हकारों का उत्पत्तिस्थान देश समान है, अतः कण्ठ्य हकार का भी जिह्वामूलीय हकार से ग्रहण होता है। हकार के पाँच स्थान हैं—कण्ठस्थानीय तथा तीव्र स्पृष्ट प्रयत्न वाले वर्ण से पूर्व हकार जिह्वा-मूलीय कहलाता है। जैसे ꣵक ꣵख में क व ख से पूर्व हकार का कण्ठस्थान तथा तीव्र स्पृष्ट प्रयत्न है। वही हकार जब ओष्ठस्थानीय तीव्रस्पृष्टप्रयत्न वाले वर्ण से पूर्व होता है, तब उपध्मानीय कहलाता है। जैसे ꣵप ꣶफ। इनमें प व फ से पूर्व हकार उपध्मानीय है क्योंकि यहाँ हकार कण्ठस्थानीय क ख वर्ण से पूर्व न होकर ओष्ठस्थानीय प फ से पूर्व है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के उच्चारण में समानता होने पर भी स्थानभेद के कारण इन्हें भिन्न वर्ण माना

जाता है। जब हकार मुखमध्यभागस्थानीय एवं अर्द्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले शकरादि वर्णों से पूर्व होता है, तब वह विसर्जनीय कहलाता है। जैसे 'कः शमः, कः षडङ्गः, कः सुतः आदि उदाहरणों में। अन्त में भी हकार विसर्ग ही कहलाता है। जैसे—'कः' इस उदाहरण में। नासिक्य अन्तस्थ वर्ण के परे होने पर हकार औरस्य कहलाता है। जैसे—ह्न, ह्ल इन उदाहरणों में। शिक्षाकार [1]अयोगवाहों को आश्रयस्थानभागी मानते हैं। अतः [2]अकार व ऋकार से परे विसर्ग कण्ठ्य, इकार ऐकार से परे तालव्य, उकार औकार से परे ओष्ठ्य, एकार से परे कण्ठतालव्य, ओकार से परे कण्ठोष्ठ्य माना जाता है। तथा पूर्वस्वरस्थानभागी होने से स्वरभक्ति के भी पूर्व स्वर के स्थानभेद से विभिन्न स्थान होते हैं। अर्थात् पूर्वस्वर का जो स्थान होता है वही स्थान उसके बाद आने वाली स्वरभक्ति का होता है। अतः विसर्ग की तरह विभिन्न स्वरों से परे आने वाली स्वरभक्ति के भी स्थान बदलते रहते हैं. देवैः सह, मतिः सा हि, सर्वैः सा हि, पशुः सः, नौः सह, मतेः सावोः, साधोः सहोवत् इत्यादि क्रमशः उसके उदाहरण हैं। विसर्ग और स्वरभक्तियों के उच्चारणक्रम में इस भेद का निदर्शन लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा में किया गया है। नासिक्य तथा अन्तःस्थ वर्ण परे होने पर हकार औरस्य कहलाता है। जैसे ह्ण, ह्न, ह्म, ह्य, ह्र, ह्ल, ह्व आदि में। अस्पृष्ट वर्ण परे होने पर हकार कण्ठस्थानीय माना जाता है। जैसे सह-सहितो हुतो हृदि। इन पाँचों प्रकार के हकारों में उच्चारण की तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न की समानता है।

(११) मुख में प्रथम, मध्यम, उत्तम भेद से तीन स्थान हैं। उरः, कण्ठः तथा कर्णमूल ये तीन स्थान प्रथम स्थानत्रय कहलाते हैं। तालुमूल, मूर्धा तथा दन्तमूल ये तीन स्थान मध्यम स्थानत्रय हैं और सृक्का, उपध्मा तथा ओष्ठ ये तीन स्थान उत्तम स्थानत्रय कहलाते हैं। उनमें प्रथम तीनों स्थानों (उरः, कण्ठ, कर्णमूल) में और उत्तम तीन स्थानों (सृक्का, उपध्मा, ओष्ठ) में ऊष्म-वर्णों का अर्धस्पृष्ट प्रयत्न होने पर भेदाभिव्यक्तिरहित 'ह' ऐसा समान ही रूप रहता है। तालुमूल, मूर्धा, दन्तमूल इन तीन मध्यम स्थानों में अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले ऊष्म—

१. अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः। इति। पा० शि०।

२. अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धो येषां ते अयोगा अनुपदिष्टत्वात् उपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः। सि. कौ. तत्त्वबोधिनी।

वर्णों का हकार से भेद होने पर भी अत्यल्पभेदयुक्त समान सा रूप रहता है। जैसे—श, ष, स। इन तीनों में मध्यम मूर्धन्य षकार का कवर्ग द्वितीय वर्ण (ख) के समान उच्चारण माध्यन्दिनशाखा वाले करते हैं। जैसा कि केशवी—सूत्र में कहा है— षः खष्टुमृते च। ष का ख के समान उच्चारण करने में वे कोई प्रयत्नदोष आदि कारण नहीं मानते हैं। वे ष का ख की तरह उच्चारण करते हैं पर लिपि में 'ष' ही मानते हैं। उसमें कोई परिवर्तन नहीं करते।

(१२) एकस्वरभक्ति, दश अन्तःस्थ, आठ ऊष्मवर्ण इन १९ वर्णों का, जिनमें स्वर और व्यंजन दोनों के धर्म मिलते हैं, अल्पस्पृष्टत्त्व तथा अल्पविवृतत्त्व साधर्म्य है।

(१३) ग ज ड द ब ये पांच वर्ण घोष, संवृत, ईषन्नाद तथा स्पृष्ट हैं। क च ट त प ये पाँच वर्ण अघोष, विवृत, ईषच्छ्वास तथा स्पृष्ट हैं। इन दसों व्यञ्जनों में पूर्णस्पृष्टत्त्व, अल्पप्राणत्त्व तथा निरनुनासिकत्त्व-साधर्म्य (समान धर्म) हैं।

(१४) ढ़ ळ्ह—ये दो वर्ण दुःस्पृष्ट हैं। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—ड ढ़ किन्हीं के मत में ळ, ळ्ह बन जाते हैं। किन्तु ड, ढ जब स्वरों के मध्य में हों तथा समान पद में हों तभी ळ. ळ्ह बनजाते हैं। जसे—अषाढ़ा-अषाळ्हा। माध्यन्दिनशाखा वाले ळ्ह को नहीं मानते हैं।

(१५) घ, झ, ढ, ध, भ— ये पाँच वर्ण नाद, संवार व घोष हैं।

ख, छ, ठ, थ, फ— ये पाँच वर्ण श्वास, विवार व अघोष हैं।

इन १२ वर्णों-ढ़, ळ्ह, घ, झ, ढ, ध, भ, ख, छ, ठ थ, फ का स्पृष्टत्त्व, सोष्मत्त्व व महाप्राणत्त्व साधर्म्य है। र, ल ङ, ण, न, म आदि भी सोष्म वर्ण हैं, किन्तु छन्दोभाषा में इन्हें सोष्म नहीं कहा है। अतः उनका यहां निरूपण नहीं किया है।

(१६) अँ इँ ऋँ लृँ उँ— ये ५ नासिक्यभावी स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत-भेद से चौदह हैं, क्योंकि लृ दीर्घ नहीं होता, नहीं तो १५ होते। विशुद्ध विवृत अकार मूल-प्रकृति होने से भावी नहीं है किन्तु अनुनासिक अकार के भावी होने में कोई बाधा नहीं है।

एँ ऐँ ओँ औँ— ये चार नासिक्य संध्यक्षर स्वर, दीर्घ, प्लुत भेद से ८ हैं क्योंकि ये कभी ह्रस्व नहीं होते। ये संध्यक्षर होने से द्विमात्रिक हैं और

ह्रस्व एकमात्रिक होता है। १४ प्रकार के नासिक्य भावी स्वर तथा ८ प्रकार के नासिक्य संध्यक्षर सभी उदात्त अनुदात्त स्वरित भेद से तीन प्रकार के हैं अतः मिलाकर नासिक्य भावी स्वरों तथा नासिक्य सन्ध्यक्षरों की संख्या २६ हो जाती है। इन सबका अनुनासिकत्व, अस्पृष्टत्व तथा विवृतत्व साधर्म्य है।

(१६) अं—यह स्वर से उत्तर अनुस्वार वर्ण है।

आ ँ — यह विशुद्ध दीर्घ स्वर से उत्तर रङ्ग वर्ण है।

यँ वँ लँ—ये तीन अन्तस्थवर्ण हैं।

कुं खुं गुं घुं—ये चार यमवर्ण हैं।

ङ ञ ण न म— ये पाँच वर्ण नाद, संवार व घोष हैं।

इन उपर्युक्त चौदह वर्णों का नासिक्यत्व-साधर्म्य है। यहाँ अल्पप्राण, घोष, स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट व ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले तालव्य वर्णों-ज य् य का अनुनासिक होने पर समान ही उच्चारण होता है। अतः अनुनासिक ईषत्स्पृष्ट से नासिक्य चवर्ग-पञ्चम ञकार पृथक् वर्ण नहीं है तथापि चिरंतन लोकव्यवहार के अनुरोध से उसे यहाँ वर्णान्तर कह दिया गया है। मुखमध्य-भागस्थ तालव्य, मूर्धन्य तथा दन्त्य अनुनासिक वर्णों (ञ, ण, न,) का मृदुस्पृष्ट वर्ण (ज, ड, द) तथा तीव्रस्पृष्ट वर्ण (च, ट, त) परे होने पर अनुस्वार की तरह समान ही उच्चारण होता है। जैसे—सञ्चारः सञ्जयः, कण्टकम्, काण्डः, दन्तः, स्कन्दः में। तथापि अस्पृष्ट व ईषत्स्पृष्ट वर्ण परे होने पर गुण, गुण्य आदि शब्दों में विशेषता की उपलब्धि होने से णकार को अलग वर्ण मानना उचित है। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय व यमवर्णों में अयोगवाहत्व-साधर्म्य है। इस प्रकार छन्दोभाषा में १८७ वर्ण हैं। जो यमों को २० मानते हैं उनके मत में २०३ वर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार ९७, १८७ अथवा २०३ वर्ण छन्दोभाषा में मतभेद से हैं। यह आर्षेयी वर्णमातृका पथ्यास्वस्ति कहलाती है।

ब्राह्म वर्णसमाम्नाय

ब्राह्म वर्णसमाम्नाय में संक्षेपतः ६४ वर्ण हैं। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में कहा है:— [1]प्राकृत व संस्कृत में ब्रह्मा के द्वारा स्वयं प्रोक्त ६३ या ६४ वर्ण हैं।

(१) त्रिषष्टिर्वा चतुःषष्टिर्वर्णाः संभवतो मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा॥

[illegible] २१ स्वर, २५ स्पर्श, यकारादि वर्ण आठ, चार यम तथा अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय व उपध्मानीय ये आठ पराश्रित (अयोगवाह)[२] दुःस्पृष्ट तथा प्लुत लृकार इस प्रकार ६४ वर्ण हैं। उनका विवरण निम्नरीति से है :—

(१)	अ	आ	अ ३
	इ	ई	इ ३
	उ	ऊ	उ ३
	ऋ	ॠ	ऋ ३
	लृ	०	०
(२)		ए	ए ३
		ऐ	ऐ ३
		ओ	ओ ३
		औ	औ ३

ये २१ स्वरवर्ण हैं।

(१)　स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍ क ≍ पौ चापि पराश्रयौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥
अथोविंशतिरित्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
द्विचत्वारिंशद् व्यंजनान्येतावान् वर्णसंग्रहः॥
एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः।
यत् किञ्चिद् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम्॥

[illegible]—

(२)　अवर्णाच्च [illegible] विसर्गः [illegible] एव सः।
इवर्णाच्च [illegible] तथा चैकारपूर्वकः॥१६॥
ओकारपूर्व[illegible] तालव्यो भवति ध्रुवम्॥
ऋकाराच्च कण्ठतालुर्विसर्गो भवति ध्रुवम्।
कण्ठोष्ठ्यस्तथौकाराद् विसर्गो भवति ध्रुवम्॥
देवो वः सविता चात्र हकारसदृशो भवेत्।
देवीस्तिस्त्रो विसर्गस्तु हिकारसदृशो भवेत्।
आवृत्ते पशुरित्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥
विसर्गस्त्वग्नेरित्यादौ हेकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो बाह्वोरित्यादौ होकारसदृशो भवेत्।
अथ [illegible] हिकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो [illegible]रित्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥
[illegible] इति [illegible]-व्यवस्थितिः:
[illegible]समदृशो विसर्गो भवति ध्रुवम्॥

(३)

ग	ज	ड	द	ब	
क	च	ट	त	प	
ख	छ	ठ	थ	फ	ये २५ स्पर्शवर्ण हैं।
घ	झ	ढ	ध	भ	
ङ	ञ	ण	न	म	

(४)

य	र	ल	व	
श	ष	स	ह	ये आठ यादिवर्ण हैं।

(५)

ᳵ क—जिह्वामूलीय
ᳵ प—उपध्मानीय
अं—अनुस्वार
अः—विसर्जनीय

कुँ खुँ गुँ घुँ—यम ये आठ अयोगवाह हैं।

(६) ळ—दुःस्पृष्ट। १ वर्ण

(७) कोई लृकार को प्लुत नहीं मानते। उनके मत में ६३ वर्ण हैं। और जो लृकार को प्लुत मानते हैं उनके मत में ६४ वर्ण हैं।

(८) कात्यायन ने प्रातिशाख्य में 'हुम्' यह नासिक्य वर्ण अधिक माना है। अतः उनके मतानुसार ब्राह्मवर्ण-समाम्नाय में ६५ वर्ण हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है कि २३ स्वरवर्ण हैं और ४२ व्यंजनवर्ण हैं। ये ६५ वर्ण ही ब्रह्मराशि कहलाते हैं। इन्हीं में सारा वाङ्मय प्रतिष्ठित है। स्वर के विना अनुस्वार तथा विसर्ग का उच्चारण नहीं होगा। अतः वे व्यंजन कहलाते हैं।

(१०) उदात्त, अनुदात्त व स्वरित की एकत्वविवक्षा के कारण उदात्तादिभेद से स्वरसंख्या में वृद्धि नहीं है। स्वरभक्ति का स्वर में अन्तर्भाव है। विवृत्ति तथा संवृत अकार का अकार में अन्तर्भाव है। दुःस्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-अ़ य़ ड़ ल़ व़ का ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-ऽ य र ल व के द्वारा संग्रह है। औरस्य हकार का कण्ठ्य हकार के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तथा रङ्गवर्ण का अनुस्वार में अन्तर्भाव है। इस प्रकार ६४ वर्ण ही हैं, अधिक नहीं।

इस ब्राह्म-वर्णसमाम्नाय के सम्प्रदाय का ऋक्तन्त्र-व्याकरण में निम्नरीति से उल्लेख है.—

'इदमक्षरं छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तम् । ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच । बृहस्पतिरिन्द्राय । इन्द्रो भरद्वाजाय । भरद्वाज ऋषिभ्यः । ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः । तं खल्विममक्षरसमाम्नायं ब्रह्मराशिरित्याचक्षते । न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयात् ।' इति ।

माहेश्वर वर्णसमाम्नाय

माहेश्वर वर्णसमाम्नाय में ५१ वर्ण हैं । जिनका उल्लेख 'अ इ उण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, लण्, ञ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श ष स र्, हल्' इन चौदह माहेश्वर सूत्रों में है । ये वर्ण—

अ	इ	उ	ऋ	लृ
०	ए	ओ	ऐ	औ
ह	य	व	र	ल
ञ	म	ङ	ण	न
झ	भ	घ	ढ	ध
ज	ब	ग	ड	द
ख	फ	छ	ठ	थ
च	ट	त	क	प
श	ष	स	ह	०

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय एवं यमों का अकार पर तथा स्वरों में पाठ मानते हैं । ऐसा महाभाष्य में कहा है । अतः आठ वर्ण ये हैं । इस प्रकार ५१ वर्ण हैं । शेष वर्णों का इन्हीं में अन्तर्भाव है ।

प्राचीन काल में असुरों के अनेक अवान्तर भेद थे । उनमें मयासुर-विभाग विद्या, शिल्प, कला, वीरता, सभ्यता आदि गुणों को विशेषता के कारण अन्यों से श्रेष्ठ था । यही विभाग प्रचीन समय में यवन नाम से विख्यात था । उसकी वर्णमातृका होढाचक्र नामक थी, उसमें ३७ वर्ण थे । वे निम्नाङ्कित हैं:—

(१) अ ब क ह ड
म ट प र त
न य भ ज ख ये २० प्रस्तीर्य वर्ण हैं ।
ग स द च ल

(२) अ इ उ ए ओ ये ५ मात्रावर्ण हैं ।

(३) घ ङ छ
य ण ठ
ध फ ढ ये १२ परिशिष्ट वर्ण हैं ।
थ झ ञ

प्रस्तीर्य वर्णों में संवृत अकार है वह व्यंजनतुल्य है । मात्रावर्णों में विकृत अकार है वह स्वरवर्ण है । प्रस्तीर्य वर्णों में मात्रा के सम्बन्ध से प्रस्तार होने पर १०० वर्ण हो जाते हैं । वे निम्नाङ्कित हैं :—

(१)

अ	ब	क	ह	ड
इ	बि	कि	हि	डि
उ	बु	कु	हु	डु
ए	बे	के	हे	डे
ओ	बो	को	हो	डो

(२)

म	ट	प	र	त
मि	टि	पि	रि	ति
मु	टु	पु	रु	तु
मे	टे	पे	रे	ते
मो	टो	पो	रो	तो

(३)

न	य	भ	ज	ख
नि	यि	भि	जि	खि
नु	यु	भु	जु	खु
ने	ये	भे	जे	खे
नो	यो	भो	जो	खो

(४)

ग	स	द	च	ल
गि	सि	दि	चि	लि
गु	सु	दु	चु	लु
गे	से	दे	चे	ले
गो	सो	दो	चो	लो

अवजद, हव्वज, हुत्ती, कलमन् इस प्रकार की एक अवजद नाम की अन्य वर्णमातृका भी थी। किन्तु आर्यों ने उसका ग्रहण नहीं किया अतः उसका यहाँ निरूपण नहीं किया जा रहा है।

अवयवपरिच्छेद को मात्रा कहते हैं। ध्वनिपरिच्छेद वर्ण कहलाते हैं। अतः वर्णरूप परिच्छेद ही मातृका कहलाती है। मात्रिका को ही उच्चारण की समानता से मातृका कहते हैं। अथवा जननी को माता कहते हैं अर्थात् जननी में मातृशब्द रूढ है। यह वर्णमाला भी सर्वदेशीय भाषाओं की जननी है। अतः वर्णमाला को वर्णमातृका कहा गया है।

पहिले भाषा ही चालू हुई थी। पश्चात् उसमें वाक्यविभाग, वाक्यों में पदविभाग तथा पदों में वर्णविभाग हुआ। प्रारम्भ में तत्तद्वर्णों से प्रारम्भ होने वाले पदविशेष के द्वारा वर्णों की संज्ञा थी। जैसे—अधमवाची 'रेफ' पद रकार का बोधक था। पश्चात् वर्ण के आगे 'इति' शब्द जोड़ कर वर्ण की संज्ञा हुई। जैसे—डिति डकार वर्ण की संज्ञा हुई। कात्यायनादि आचार्यों ने 'निर्देश इतिना' इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि वर्णों का निर्देश वर्ण के आगे इतिशब्द लगा कर करना चाहिये। तदनन्तर वर्ण के आगे कार-शब्द जोड़ कर वर्ण की संज्ञा की जाने लगी। जैसे अकार 'अ' की तथा ककार 'क' की संज्ञा बनी। 'कारेण च अव्यवहितेन व्यंजनस्य' इस सूत्र के द्वारा कात्यायन ने इसी तथ्य का निर्देश किया है। 'र एफेन च' इस सूत्र के द्वारा यह भी बतलाया है कि रकार का रेफ शब्द से भी व्यवहार होता है। पदों में वर्णव्याकरण सर्वप्रथम रेफ शब्द से ही आरम्भ हुआ। अतः उसके स्मरण के लिये माङ्गलिक स्वर्णाभिजान रेफ शब्द से ही कहा जाता है 'स्वैररपि' इस सूत्र के द्वारा कात्यायनादि ने यह बतलाया है कि स्वरों के द्वारा वर्णों का निर्देश होता है। और यह नियम सर्वभाषासाधारण है। जैसे क, ख, ग, घ, ङ में अकाररूप स्वर के द्वारा ही वर्णों का निर्देश हुआ है। इसी प्रकार इंगलिश भाषा में कहीं ए, बि, सि, डि इस रूप से इकार के द्वारा, जे, के में एकार के द्वारा, वर्णों की संज्ञा की गई है। कहीं आदि में एकार लगा कर संज्ञा की जाती है। जैसे—एफ, एल, एम, एन. एस, एक्ष में। कहीं आदि में आकार लगाकर। जैसे—आर। पारसी भाषा में भी एकार जोड़कर वर्णसंज्ञा की जाती है। जैसे—बे, पे, ते, टे, से इत्यादि में। अलिफ शब्द अलिपि का अपभ्रंश है। जीम्, सीम्, स्वाद, गीन इत्यादि संज्ञायें संस्कृत रेफ शब्द की तरह

प्राचीनसंप्रदाय सिद्ध हैं। जैसे—रेफ शब्द माङ्गलिक है इसी प्रकार जीम् इत्यादि शब्द भी माङ्गलिक हैं।

श्री मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्रन्थ के मातृकापरिष्कार नामक प्रथम प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

——

यमपरिष्कार द्वितीय प्रपाठ

यमपरिष्कार नामक द्वितीय प्रपाठक में यम का विशद विवेचन किया गया है। शुद्धजित्, सोष्मजित्, शुद्धधि, सोष्मधि भेद से यम के ४ प्रकार हैं। उनको क्रमशः कुं खुं गुं घुं संज्ञायें हैं। यम के स्वरूप में मतभेद है। १—एकवर्ण में पूर्व तथा पर अक्षरों के बलों की एक साथ सम्प्रसक्ति होने पर दोनों बलों के विरोध से वर्ण को द्वित्व हो जाता है। उन दो वर्णों में द्वितीय वर्ण अनुनासिक पर वर्ण के कारण नासिक्य हो जाता है। वही नासिक्य वर्ण यम कहलाता है। द्विरुक्त वर्णों में प्रथम वर्ण निरनुनासिक है और द्वितीय वर्ण अनुनासिक परवर्ण के कारण नासिक्य हो गया है। इन दोनों का भिन्न प्रयत्नों से ग्रहण होता है। अतः दोनों वर्णों में कुछ विच्छेद होता है और यम एक ही वस्तु है। इस द्विरुक्त वर्ण में पहिले का स्पृष्ट प्रयत्न है क्योंकि वह निरनुनासिक है तथा द्वितीय सानुनासिक है, क्योंकि पर अनुनासिक पंचमवर्ण के प्रभाव के कारण उसमें नासिक्यता आ जाती है अतः उस नासिक्य द्वितीयवर्ण का संवृत प्रयत्न है। यही इन दोनों वर्णों के प्रयत्न में भेद है। सप्तरूक ने इस अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। जैसे—

वर्णानां तु प्रयोगेषु करणं स्याच्चतुर्विधम्।
संवृतं विवृतं चैव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च ॥
स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्तःस्थानामतोऽन्यथा।
यमानां संवृतं प्राहुर्विवृतं तु स्वरोष्मणाम् ॥

यहाँ स्पष्ट रूप से यम वर्णों का संवृत प्रयत्न बतलाया गया है। इस पक्ष में यम वर्ण का आगम है। अतएव सशरीर है एवं पूर्व वर्ण के सदृश वर्ण

है। केवल उन दोनों वर्णों में निरनुनासिकता व सानुनासिकता तथा स्पृष्ट प्रयत्न व संवृत प्रयत्न का भेद है। वर्णप्रदीपिकाकार ने भी—

'स्वरात् संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः।
तस्यैव यमसंज्ञा स्यात् पंचमैरन्वितो यदि ॥'

इस कारिका के द्वारा पंचम अक्षर के परे होने पर उसके साथ संयुक्त पूर्व वर्ण के द्वित्व से उत्पन्न तत्समान द्वितीय वर्ण को ही यम बतलाया है। 'अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः' इस औदव्रजि सूत्र में भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण है। ये यम संख्या में बीस हैं, क्योंकि प्रत्येक वर्ग के आदि के चारों वर्णों में पञ्चम वर्ण के परे होने पर द्वित्व के कारण उत्पन्न द्वितीयवर्ण यम कहलाते हैं। तथापि शुद्धजित्व. सोष्मजित्व, शुद्धधित्व व सोष्मधित्व इन धर्मों के प्रत्येक वर्ग के चारों यम वर्णों में समानरूप से रहने के कारण इन चार धर्मों के कारण यम चार ही माने जाते हैं।

दूसरा मत यह है कि दो पदों के मध्य में अर्धमात्राकालिक यति (विच्छेद) होता है जिसे विवृत्ति भी कहते हैं। जैसे—'दश रामनराः'। इस उदाहरण में दश के बाद तथा राम के बाद अर्द्धमात्राकालिक विच्छेद होता है। अर्थात् दश पद का उच्चारण करने के पश्चात् राम का उच्चारण करने से पूर्व कुछ समय रुकना पड़ता है। यह यति अर्थभेद में भी कारण पड़ती है। जैसे—'सदास आयाति' में प्रथम सकार के बाद यति करने पर इस वाक्य का अर्थ वह 'वह दास आता है' यह होता है। और दा के बाद यति करने पर 'वह सदा आता है' यह अर्थ होता है। इन दोनों अर्थों के भेद में कारण यति ही है। इसी प्रकार—

काकाली, कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा।
कंसं जघान कृष्णः कम्बलवन्तं न बाधते शीतम् ॥

इस पद्य में—'का काली का मधुरा, का शीतलवाहिनी गङ्गा।
कं संजघान कृष्णः कं बलवन्तं न बाधते शीतम् ॥'

इस प्रकार का तथा कं के बाद यति करने पर का काली इत्यादि प्रश्न-वाक्य बन जाते हैं। तथा—

काकाली, कामधुरा, काशीतलवाहिनी गङ्गा।
कंसं जघान कृष्णः कम्बलवन्तं न बाधते शीतम् ॥

इस रूप में 'काकाली' 'कामधुरा' व 'क नवाहिनी' 'गङ्गा' में का के बाद यति न करने से तथा 'कंसं जघान' में कंस के बाद यति करने से एवं 'कम्वलवन्तं' में क के बाद यति न करने से यही पद्य उत्तरवाक्य बन जाता है। इसी रीति से –

काग़दही की आस में बैठे निपट उदास।
काग़दही पाये विना मिटे न मन की प्यास ॥

इस भाषापद्य में भी तीन जगह विरतिरूप यति के भेद से तीन अर्थ होते हैं। जैसे – का गदही की आस में, काग दही की आस में तथा कागद ही की आस में।

'स क्रतुः' इस शब्द में ककार से पूर्व विरति होने पर 'सऽक्रतुः' ऐसा उच्चारण होता है। किन्तु ककार के उत्तर यति होने पर 'सक्ऽरतुः' ऐसा उच्चारण होता है। यद्यपि 'सक्रतुः' में ककार परस्वर का अंग है। किन्तु जब ककार के बाद यति होती है तो यति द्वारा ककार पर परस्वर का बल शिथिल हो जाता है और पूर्व अक्षर के बल का आक्रमण होने से पूर्व के साथ अधिक संनिकर्ष होता है। ककार पर, पूर्व तथा पर दोनों अक्षरों के बल के आक्रमण के कारण 'क' को जब द्वित्व हो जाता है तब यति पूर्व ककार के बाद तथा द्वितीय ककार के पूर्व होती है। और 'स क्ऽक्रतुः' ऐसा उच्चारण होता है। 'नक्तम्' में एक ही पद होने से पदविरति के न होने से, दो अक्षरों के मध्य ही विरति होने से भिन्न स्थानों में विरति होने के कारण तीन प्रकार का उच्चारण होता है। जैसे— न–क्तम्। नक्-तम्। नक्क्तम्। पहिले में 'क' से पूर्व विरति है। द्वितीय में 'क' के बाद। तथा तृतीय में पूर्वोत्तरों के बलों के आक्रमण के कारण 'क' को द्वित्व होता है, और दोनों ककारों के मध्य विरति है। अनुनासिक वर्ण के परे होने पर उसके प्रभाव के कारण विरति नासिक्य बन जाती है उसी को यम कहते हैं। इस पक्ष में विरति या अर्द्ध-मात्रा-कालिक विच्छेद का नाम यति है और विच्छेद या विरति शरीरशून्य है। अतः इस पक्ष में यम भी शरीरशून्य है। इसीलिए अमोघनन्दिनी शिक्षा में यम को अशरीर कहा है।

'जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः।
अशरीरं यमं विद्यात् संमाज्ज्मींति निदर्शनम् ॥

'अन्तः पदेऽपञ्चमाः पञ्चमे तु विच्छेदम्' इस प्रातिशाख्य सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार ने भी 'विच्छेद इति यमसंज्ञा' इस उक्ति के द्वारा विच्छेद

को यम बतलाया है। वस्तुतः दो स्वरों के विच्छेद को विवृत्ति संज्ञा तथा दो व्यंजनों के विच्छेद को यम संज्ञा है। 'हरऽएहि' में दो स्वरों के मध्य का विच्छेद विवृत्ति कहलाता है तथा 'पलिक्क्नी' आदि में दो व्यंजनों के मध्य का विच्छेद यम कहलाता है। इस पक्ष में विच्छेद की यमसंज्ञा होने पर भी विच्छेद के पूर्ववर्त्ती व्यंजन के चार प्रकार का होने से उसके अनन्तरवर्त्ती विच्छेदरूप यम को भी चार प्रकार का माना जाता है और इस प्रकार यमपूर्ववर्ती व्यंजन के चातुर्विध्य का यम में आरोप किया जाता है।

तीसरा पक्ष यह है कि भगवान् कणाद ने 'संयोगविभागशब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः' इस सूत्र के द्वारा संयोग, विभाग तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति बतलाई है। जैसे-ऊर्क्-क्, हरित्-त्, फट्-ट्, इत्यादि में पदान्त के ककार, तकार, टकारों में प्रथम ककारादि, स्थान-करणसंयोगजन्य हैं तथा द्वितीय ककारादि, वेग से स्थान करण का विभाग होने से उत्पन्न होते हैं अतः विभागज हैं। यद्यपि स्थान-करण-संयोग का शनैः उपराम होने पर अर्थात् विभाग होने पर कोई भी वर्ण उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वेग के साथ स्थानकरण का विभाग होने पर, जिस प्रकार वेगपूर्वक स्थान-करण के संयोग से शब्द उत्पन्न होता है उसी प्रकार विभाग से भी शब्द उत्पन्न होता है। जैसे—पदविरामरूप पदान्त में संयोगज व विभागज दोनों प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार पद के मध्य में भी स्थान-करण के संयोगजन्य शब्द की तरह वेग से स्थान और करण का विभाग होने पर विभागज शब्द भी उत्पन्न होता है। सोष्मवर्ण (वर्गों के द्वितीय चतुर्थ वर्ण), रेफ तथा हकार को छोड़कर शेष वर्णों में द्वित्व का यही कारण है। यह विभागज वर्ण ही अनुनासिक वर्ण होने पर उसके प्रभाव से नासिक्यता को प्राप्त होकर यम कहलाता है। 'सक्थ्-थ्ना' इत्यादि में ककार के आगे थकार पर विरति होती है। यह थकार संयोगज व विभागज दोनों प्रकार का है। इनमें विभागज थकार अनुनासिक 'न' के पूर्व होने से यम कहलाता है। यहां पर ककार को द्वित्व नहीं होता, क्योंकि वर्णरत्न-प्रदीपिका में यम के परे होने पर ककार के द्वित्व का निषेध किया है।

'द्विरुक्तिं वर्जयेन्नित्यं यमेऽपि परतः स्थिते।
सक्थ्-थ्ना देदिश्यते नारी ककारोऽत्रैक एव हि॥'

यद्यपि 'सक्थ्-थ्ना' में थकार को भी द्वित्व नहीं होता क्योंकि 'सर्वेषां

व्यंजनानां द्विर्भावो भवति द्वादशवर्जम्। ते ख छ ठ थ फा घ भ ढ ध भा रहौ चेति।' इस गौतमसूत्र में थ के द्वित्व का निषेध किया है, अतः इस मत को मानने पर थकारान्तर्वर्ती तकार को द्वित्व मानना चाहिये। प्रथमैर्द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्थाः 'इस कात्यायन प्रातिशाख्य सूत्र में भी यही तथ्य बतलाया गया है। इस प्रकार २० यम हैं। चतुर्थ मत यह है कि २० यम नहीं हैं किन्तु क, ख, ग, घ-सदृश ध्वनि वाले चार ही यम हैं जिनकी क्रमशः कुं खुं गुं घुं ये संज्ञायें हैं। अतः आतनच्मि में आतनच्-क्मि, संमार्ज्ज्मि का संमार्ज्-ग्मि, आट्णा का आट्क्णा, रत्नम् का रत्क्नम्, सक्थ्ना का सक्थ्ख्ना, विद्मः का विद्-ग्मः, दध्मः का दध्-घ्मः, पाप्मा का पाप्-क्मा ऐसा उच्चारण होता है। इसलिए पाणिनीय शिक्षाभाष्य शिक्षाप्रकाश में 'अन्तर्वर्त्क्नी में तकार, यम ककार, नकार व ईकार ये चार वर्ण माने हैं। 'यज्ञः' में जकार, यम गकार, तथा ञकार ये तीन वर्ण माने हैं। अर्थात् इन उदाहरणों में च व ज के साथ भी क्रमशः ककार व गकार को ही यम माना है न कि च् या ज को।

वस्तुतः कुँ व गुँ इन यमों के कवर्ग-स्थानीय होने से चवर्ग-स्थानीय च तथा ज को भी कवर्ग होकर क्रमशः क तथा ग हो जाता है। इसी तथ्य का निरूपण 'चोः कुः' सूत्र के द्वारा किया गया है। अतः आतनच्मि के स्थान में 'आतनक्क्मि' तथा संमार्ज्मि के स्थान में 'संमार्ग्ग्मि, यज्ञः' के स्थान में 'यग्ग्ज्ञ.' तथा विज्ञानम् के स्थान में 'विग्ग्ज्ञानम्' उच्चारण सम्प्रदायसिद्ध माना जाता है।

'ज्ञानम्' में भी मध्यमें 'गुँ' यम होता है। क्योंकि वर्गों के अन्त्य-भिन्न तथा अन्त्य वर्णों के संयोग में मध्य में यम होता है। ऐसा [1]औदव्रजि ने, वर्णों के अन्त्यभिन्न तथा अन्त्य स्पर्शों का संयोग होने पर अन्त्यभिन्न वर्ण के पूर्व में तथा, अन्त्य वर्णों के उत्तर में होने पर यम का प्रयोग होता है, ऐसा गौतम[2] ने

---

१. अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः।

२. अनत्यानन्त्यसंयोगेऽनन्त्यपूर्वेऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते तत्र यमा वर्तन्ते न संशयः।

(गौतम)

कहा है। इसी प्रकार नारद[1], याज्ञवल्क्य[2], एवं मण्डूक[3] ने भी अनन्त्य व अन्त्य वर्णों का संयोग होने पर मध्य में यम की सत्ता बतलाई है। अतः ज्ज्ञानम् मध्य में गुँ संज्ञक यम के होने से और उसके झल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से जकार को भी 'चोः कुः' से कुत्व होकर गकार का ही उच्चारण होता है, यही उच्चारण वेदसम्प्रदायसिद्ध है। लोक में भी यही उच्चारण होता है। क्योंकि कितने ही वैदिक शब्दों का व उच्चारणों का लोक में भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे वैदिक घृ धातु का लोक में भी 'घृतम्' आदि शब्दों में प्रयोग देखा जाता है।

'ज्ञानम्' 'विज्ञानम्' इत्यादि में एक ही गकार प्रतीत होता है। अतः अप्रतीयमान द्वितीय 'गुं' यम की सत्ता, प्रतीत न होने से कैसे मानी जायेगी, यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पूर्व स्पर्श और यम का संयोग अयस्पिण्ड के समान घन है, अतः उसकी पृथक् प्रतीति न होने पर भी प्रकृतिसिद्ध यम का अपलाप नहीं किया जा सकता। भगवान् गौतम ने तीन प्रकार के संयोग-पिण्ड माने हैं—अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड तथा ऊर्णापिण्ड। यम के साथ वर्णों के संयोग को अयस्पिण्ड, अन्तस्थवर्णों के साथ वर्णों के संयोग को दारुपिण्ड, यम व अन्तःस्थवर्णों से भिन्न वर्णों के संयोग को ऊर्णापिण्ड माना है। अन्तस्थ और यम वर्णों के संयोग में कोई विशेषता नहीं है। अतः यम को अशरीर बतलाया गया है।

अशरीर का तात्पर्य यह है कि यम पूर्ववर्ती स्पर्श के शरीर में अन्तः प्रविष्ट हो जाते हैं। इसीलिये पूर्वस्पर्शवर्ण तथा यम के मध्य में कोई विच्छेद नहीं होता। इसीलिये पूर्ववर्ती स्पर्श से भिन्न यम की प्रतीति नहीं होती। जैसा कि 'ज्ञानम्', विज्ञानम्' इत्यादि उदाहरणों में देखा जाता है।

श्री मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्रन्थ के मातृकापरिष्कार-नामक द्वितीय प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

——

१. अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो अन्त्यश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥ (नारद)

२. अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं पञ्चमाक्षरम्।
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि॥ (याज्ञवाल्क्य)

३. स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः संयोगाश्चेदनुक्रमात्।
आनुपूर्व्या यमांस्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा॥ (मण्डूक)

गुणपरिष्कार-तृतीय प्रपाठ

सप्त खण्डात्मक गुणानुवाक नामक तृतीय प्रपाठ में वर्णों में रहने वाले गुणों का निरूपण किया गया है। "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इत्यादि श्रुति में चार प्रकार की वाक् का निरूपण किया गया है।

वाक् से परिच्छिन्न चार स्थान होते हैं—वाचस्पत्य, ब्राह्मणस्पत्य, ऐन्द्र और भौम। इन चार प्रकार के स्थानों के कारण वाक् के भी चार भेद बन जाते हैं—वेकुरा, सुब्रह्मण्या, गौरिवीता तथा आम्भृणी। स्वयम्भूमण्डलरूप परमाकाश में विद्यमान वाक् वेकुरा, महासमुद्ररूप पारमेष्ठ्य मण्डल में विद्यमान वाक् सुब्रह्मण्या, महाब्रह्मांडरूप सौरमण्डल में विद्यमान वाक् गौरिवीता तथा चन्द्रमण्डल से युक्त भौमाण्डरूप पार्थिव मण्डल में विद्यमान सोममयी वाक् आम्भृणी कहलाती है। यह चारों प्रकार का वाक्तत्व तत्तल्लोकों में विद्यमान सभी पदार्थों का उपादान कारण है। उनमें यह आम्भृणी वाक् इस भूमि में सर्वत्र व्याप्त है। इसी आम्भृणी वाक् से सब मनुष्य उपजीवित हैं। अन्य तीन प्रकार की वाक् गुहा में निहित हैं अर्थात् अज्ञात हैं, जैसा कि वेदमंत्र में कहा गया है—

"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥"

अर्थात् ऋक्, साम तथा यजुरूप वैदिकी वाक् सबको प्रकट होती हुई भी गुहा में निहित है अर्थात् मानव उसको सम्यक्तया नहीं जानते। उपर्युक्त चारों प्रकार की वाक् का निरूपण विशदरूप से ब्रह्मविज्ञान में किया गया है। 'चत्वारि वाक्' इत्यादि मंत्र का उपर्युक्त व्याख्यान एक प्रकार का है। अन्य प्रकार से इसका व्याख्यान मैत्रायणि श्रुति में किया गया है। जैसे—

यह वाक् वाज (अन्न) का प्रसव है अर्थात् अन्न से उत्पन्न होती है ऐसा मैत्रायणि श्रुति में कहा है:—"वाग् हि वाजस्य प्रसवः। सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् एषु लोकेषु। त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे।१। याऽन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये।२। या

१. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ ।३। अथ पशुषु ।४। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः । तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति—यश्च वेद यश्च न । या बृहद्रथन्तरयोः—यज्ञादेनं (वाजं) तया गच्छति । या पशुषु तया ऋते यज्ञम् ।

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवे अग्रे सोमं राजानमोषधीष्वप्सु । स विराजं पर्य्येतु प्रजानन् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे ॥१॥ । वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवं स ओषधीः समनक्तु धृतेन । वाजस्येदं प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ॥२॥ (मैत्रि० ब्रा० १ । ११ । ४ - ५) इति ।

उपर्यूक्त मैत्रायणि श्रुति से यह सिद्ध है कि अग्न की प्रसवभूत वाक् के चार भेद हैं । इसके तीन चतुर्थांश, पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में हैं तथा एक चतुर्थांश पशुओं में है : तीनों लोकों में रहने वाली वाक् के तीन भेद गुहानिहित वस्तु की तरह प्रच्छन्न रहते है; अनुभूत नहीं होते । किन्तु पशुओं में रहने वाली चतुर्थ वाक् अनुभूत होती है । इस प्रकार 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' की यह दूसरी प्रकार की व्याख्या है । अन्य प्रकार से इस श्रुति का व्याख्यान निम्नांकित है—

अमृता, दिव्या, बायव्या तथा ऐन्द्री भेद से वाक् चार प्रकार की है। उनमें मन और प्राण से गर्भित सत्यावाक् अमृता कहलाती है। ऋक्, साम और यजु ये तीनों वेद ही अमृता वाक् हैं । इन्हीं से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इन्हीं में सब पदार्थ स्थित रहते हैं, इन्हीं में सब पदार्थों की संस्थिति अर्थात् लय होता है। यह अमृता वाक् आकाश है। अग्नि इसका ब्रह्म है, अग्नि इसका उपनिषद् है। इसलिये इसे आग्नेय कहते हैं। इसका निरूपण निम्न मंत्र में किया गया है—

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बुभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥"
(ऋ० १।१६४।४१)

दिव्या वाक् ऋत कहलाती हैं, यही अथर्ववेद है। सारे देवता और भूत दिव्यवाङ्मय ही हैं। निम्न मंत्र में इस तथ्य का निरूपण किया गया है—

"इयं सा परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता ।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥"

इस वाक् को सरस्वान् कहते हैं। दिक्सोम इसका ब्रह्म है, दिक्सोम इसका उपनिषद् है। इसलिए यह सोम्या कहलाती है। इस दिव्या वाक् का निरूपण निम्न मंत्रों में मिलता है—

"तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुपजीवति ॥
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु ॥"

इन दोनों में ध्वनि नहीं होती। इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय से इसका ज्ञान नहीं होता। ध्वनि ही शब्द है। इन दोनों में ध्वनि न होने से ये दोनों वाक् शब्द-रूप नहीं हैं।

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।"

इस मनुस्मृतिवाक्य में शब्दरहित इन वेदरूप वाणियों के लिए जो 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे लाक्षणिक मानना चाहिए। क्योंकि शब्दरहित अमृता देववाक् ही सृष्टि का कारण है।

श्रोत्र द्वारा ग्रहण करने योग्य ध्वनि दो प्रकार की होती है। इनमें पहली ध्वनि शक्तिरहित होने से अनर्थक है और वर्ण, पद, वाक्य आदि में विभक्त दूसरी ध्वनि सार्थक है। उनमें अनर्थक प्रथम ध्वनिरूप वाक् का वायु ब्रह्म है और वायु उपनिषद् है। इसलिए इसे वायव्या कहते हैं। यह वाक् गतिहीन होते हुए भी वायु से आरब्ध-उत्पादित है, वायु में प्रतिष्ठित है तथा वायु के द्वारा इधर-उधर ले जायी जाती है। इसमें नाद, श्वास आदि विशेषताएँ वायु से बनती हैं। यही विश्व का उपजीवन करने वाली सरस्वती नाम की तृतीया वाक् है। यह भी पहली अमृता तथा दूसरी दिव्या वाक् की तरह अव्याकृत अर्थात् व्याकृतिरहित है। क्योंकि अर्थ के कारण होने वाला वर्णादिविभाग इसमें दृष्टिगोचर नहीं होता। इस सरस्वती वाक् में इन्द्र प्रविष्ट होकर विभिन्न आकारों में उसे व्याकृत करता है। इसी का निरूपण निम्न श्रुति में किया गया है—

"वाग् वै पराची अव्याकृता अवदत्। तद् देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु इति। सोऽब्रवीत्। वरं वृणै। मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति।

तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।" इति।

उपर्युक्त विषय का विवेचन "बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुः" इत्यादि मंत्र में किया गया है जिसकी व्याख्या 'अक्षर-प्रकरण' में की जायेगी। इन्द्र के द्वारा व्याकृत इस वाक् से ही सारे वैदिक तथा लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं, जैसा कि निम्नश्रुति में बतलाया गया है—

"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी॥"

इस प्रकार वाक् में प्रथम तीन प्रकार के वाक्-तत्त्व अर्थज्ञान के अनुकूल नहीं हैं, अतः वे गुहा-निहित कहलाते हैं। वे किसी प्रकार के अर्थ को नहीं बतलाते, किन्तु जिस वाक् को मनुष्य बोलते हैं, जिस वाणी में अकार ककार आदि व्याकृत वर्णों का विभाग है, यह चौथी प्रकार की अव्याकृत वाणी ऐन्द्री वाक् कहलाती है। प्रज्ञा-प्राण को इन्द्र कहते हैं। प्रज्ञान के सम्बन्ध से ही वाणी में वर्ण विभाग होता है। 'अ' तथा 'उ' वैदिक विज्ञान में क्रमशः मन और प्राण के बोधक हैं। वहाँ अकार अर्थात् प्रज्ञान मन को प्राप्त ध्वनि, अम् = प्रज्ञानं मनः, ऋणः = प्राप्तः ध्वनिः इस व्युत्पत्ति से अर्ण कहलाती है। अथवा उ अर्थात् प्राण, अ अर्थात् प्रज्ञान मन को प्राप्त ध्वनि 'उ-अ-ऋण = वर्ण' इस सन्धि से वर्ण कहलाती है। अतः वर्ण ही अर्ण कहलाते हैं क्योंकि प्रज्ञा और प्राण एक दूसरे के विना नहीं रह सकते। अतः केवल प्रज्ञा से भी प्राण का संग्रह हो जाता है।

अनाहत नाद में; वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि में; पशु-पक्षी, सरीसृप आदि में तथा सद्योजात अशिक्षित शिशुरोदन आदि में जो वाक् के स्वरूप हैं, वे सब इन्द्र के द्वारा व्याकृत न होने से अनिरुक्त तथा केवल वायव्य होते हैं। मनुष्य जिस वाणी का उच्चारण करते हैं, वह अर्थगर्भित होने से निरुक्त तथा प्रज्ञात कहलाती है। यही ऐन्द्रवायव ग्रह होता है क्योंकि इसमें वायु के साथ इन्द्र का भी समावेश है।

इस व्याकृत ऐन्द्री वाक् के अध्यात्म में पुनः चार भेद हैं। वे चारों भेद परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी हैं। संसार में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का सम्बन्ध न हो। अतः सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध (सम्बद्ध) ही

प्रतीत होते हैं। इस उक्ति के अनुसार बुद्धिस्थ वाक् ही परा वाक् कहलाती है। मन के द्वारा पुस्तक के अक्षरों का उच्चारण करने वाले पुरुषों की उपांशु वाक् पश्यन्ती कहलाती है। नाद-ध्वनि के बिना श्वासमात्र से कान के पास उच्चार्यमाण वाक् मध्यमा कहलाती है। नाद-ध्वनि से युक्त दूर से भी श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वाक् वैखरी कहलाती है। इनमें परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा प्रच्छन्न हैं अर्थात् उनका विशेषतया ज्ञान नहीं होता किन्तु चतुर्थ वैखरी वाणी का मनुष्य उच्चारण करते हैं। इसीलिये विद्वानों ने कहा है—

"वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था तु पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥"

इनमें वैखरी वाणी के अध्यात्म में पुनः चार भेद हैं। जैसा कि "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" इस मंत्र में कहा गया है। वाजसनेय श्रुति में इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

"इन्द्र ने देखा कि वायु हम में यज्ञ का अधिक हिस्सा ग्रहण करता है। हम भी इसमें हिस्सा लें। उसने कहा कि हे वायो! मुझे भी तुम इस ग्रह में सम्मिलित करो। वायु ने कहा—तब क्या होगा? इन्द्र ने कहा कि निरुक्त वाक् का उच्चारण होगा। वायु ने कहा यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हें सम्मिलित करता हूँ। तबसे यह ग्रह ऐन्द्रवायव नाम से व्यवहृत होने लगा। वाणी का चौथा भाग निरुक्त है जिसको मनुष्य बोलते हैं। वाणी का वह चौथा भाग जिसको पशु बोलते हैं, अनिरुक्त है। वाणी का वह चौथा भाग भी अनिरुक्त है जिसे पक्षी बोलते हैं। वाणी का वह चौथा भाग भी अनिरुक्त है जिसे क्षुद्र सरीसृप (सर्प, बिच्छू आदि) बोलते हैं।"

वैखरी वाणी के ये चार विभाग केवल अध्यात्म में ही नहीं हैं किन्तु अधिभूत तथा अधिदैवत में भी ये चार विभाग समझने चाहियें। जिस वैखरी वाक् का मनुष्य उच्चारण करते है, उसमें भी चार विभाग होते हैं। वे चार विभाग वर्ण, अक्षर, पद तथा वाक्य कहलाते हैं। मनुष्यों द्वारा उच्चार्यमाण वैखरी वाणी के ये चार विभाग ही इन्द्रकृत व्याकरण कहलाता है। इनमें वाक्य पदों से, पद अक्षरों से और अक्षर वर्णों से बनते हैं। इनमें वर्ण, अक्षर और पद गुहानिहित हैं अर्थात् स्वतन्त्रतया अर्थबोध उत्पन्न नहीं करते हैं अपितु वाक्य ही

अर्थ को बतलाने में समर्थ हैं, अतः अर्थबोध के लिए मनुष्य वाक्यों का ही उच्चारण करते हैं।

वर्ण, अक्षर, पद और वाक्य—ये चारों विभाग भी पुनः चार प्रकार के हैं। इनमें वर्ण के चार विभाग अस्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, स्पृष्ट तथा अर्धस्पृष्ट हैं। अक्षर के चार भेद निम्नलिखित हैं—

१, पूर्व तथा पश्चात् दोनों प्रकार के व्यापारों (व्यंजनों) से शून्य अक्षर अक्षर का प्रथम भेद है। जैसे—अ।

२. पृष्ठ (पश्चात्) व्यापार से युक्त तथा पूर्व व्यापार से शून्य अक्षर अक्षर का द्वितीय भेद है। जैसे—स्म।

३. पृष्ठ व्यापार से शून्य तथा पूर्व व्यापार से युक्त अक्षर अक्षर का तृतीय भेद है। जैसे—ऊर्क् ।

४. पूर्व तथा अपर दोनों प्रकार के व्यापारों से विशिष्ट अक्षर अक्षर का चौथा भेद है। जैसे - वाक्।

पद के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं, ऐसा भगवान् पतञ्जलि ने कहा है। कुछ उपसर्ग को पृथक् पद नहीं मानते क्योंकि आख्यात उपसर्गविशिष्ट होता है, अतः आख्यात में ही उसका अन्तर्भाव है। जहाँ उपसर्गों में विभक्तियों का प्रयोग हुआ है, जैसे—"इन्द्रो देवान् प्रति प्रतिः" "अतीनि ह कर्माणि सन्ति" इत्यादि में, वहाँ उपसर्ग नाम बन जाते हैं। अतः उनका वहाँ नाम में अन्तर्भाव हो जाता है। उनके मत में पद के चतुर्थ भेद में स्वर, पुनः आदि शब्द आते हैं जो नाम, आख्यात तथा निपात से भिन्न हैं और विभक्त्यर्थ भी जिनके गर्भ में आ जाता है। अतः वे विभक्तिप्रयोग के योग्य नहीं हैं। इनको नाम नहीं कह सकते क्योंकि नाम की तरह इसमें विभिक्ति का प्रयोग नहीं होता।

अर्थ के सम्बन्ध से प्रज्ञानयुक्त वाक् वाक्य कहलाती है। यह वाक्य भी नाभिस्थान, प्रक्रम-त्रय स्थान, मुखप्रदेश-पञ्चकस्थान तथा श्रोत्रस्थान भेद से चार प्रकार का है। यह वाक् प्रज्ञान (मन) से प्रेरित होकर, नाभि से प्रारम्भ होकर दूसरे व्यक्ति के कान तक पहुँच कर उसको अर्थज्ञान करा देती है और इस प्रकार चार पदों में उपस्थित होकर विलीन हो जाती है। वाक् के इन चारो भेदों को

लेकर भी 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" इस मंत्र का समन्वय किया जा सकता है।

यह वाक्य ही प्रकारान्तर से पुनः चतुष्पद है। इसका निरूपण ऐतरेय-आरण्यक में किया गया है। वे चार पद मित, अमित, स्वर तथा सत्यानृत हैं। इनमें ऋक्, गाथा, कुम्ब्या मित कहलाते हैं। यजु, निगद तथा वृथा वाक् अमित कहलाते हैं; साम तथा गेष्ण स्वर कहलाते हैं, ओम् यह सत्य तथा 'न' यह अनृत कहलाता है। कतिपय विद्वान् सत्य और अनृत को पृथक् मानकर वाक्य के पाँच भेद भी मानते हैं। यास्क ने निरुक्त में "तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च मनुष्याणां या च देवानाम्" इस प्रकार वाक् के जो दो भेद बतलाये हैं वे संस्कृत-भाषा तथा वेदभाषा के अभिप्राय से बतलाये हैं, क्योंकि वेदभाषा को स्वर्गभाषा कहा जाता था। इन वाक्यों, पदों और अक्षरों के आरम्भक वर्ण ही होते हैं। अतः सबका मूल होने से प्रारम्भ में वर्ण ही सिखाये जाने चाहिएँ। वे वर्ण वेदभाषा में ६७ प्रकार के हैं। इन वर्णों के समाम्नाय का इस ग्रन्थ के आदि में निरूपण किया गया है।

'अक्षराणामकारोऽस्मि' इस गीतास्मृति के अनुसार एक अकार-वर्ण ही सब वर्णों का आदि मूल है। इस अकाररूप अक्षर से ही भिन्न-भिन्न गुणों के समन्वय से सारा वर्णसमाम्नाय उत्पन्न होता है। इसीलिए भगवान् ऐतरेय ने कहा है: [1]जो यह वाक् है, यही अकाररूप वाक् स्पर्श तथा उष्मा (आकुंचन व प्रसारण) से अभिव्यक्त होकर नाना प्रकार का हो जाती है। ऐ. आ. २।३।६। इस श्रुति में स्पर्श तथा ऊष्मशब्द, स्थान व करण के परस्पर संनिकर्षतारतम्य व विप्रकर्षतारतम्य के क्रमशः बोधक हैं। ये स्थान और करण बहिरंग तथा अन्तरंग भेद से दो प्रकार के हैं। मुखप्रदेश से बहिर्भूत अर्थात् वायु के मुख में प्रविष्ट होने से पहिले जो वायु के आश्रयभूत स्थान और करण हैं वे बहिरंग कहलाते हैं। दोनों ही जगह अर्थात् बहिरंग व अंतरंग में प्रयत्नविशेष से स्थान और करण का संकोच व प्रसारण होने से भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है। यहाँ स्पर्श व ऊष्मशब्द से क्रमशः संश्लेष व विश्लेष का भी बोध है। इससे स्वरों के विश्लिष्ट (विश्लेषसहित) उच्चारण में एक मात्रा का काल लगता है। और

---

१. यो वैतां वाचं वेद यस्या एष विकारः स सम्प्रतिवित्। अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति। ऐ. आ. २।३।६।

संश्लिष्ट उच्चारण में दो मात्रा तथा तीन मात्रा का काल लगता है। स्वरों का अवयवसंकोच से घनीभाव होने पर स्वर व्यंजन बन जाते हैं। वहाँ उनके उच्चारण में अर्धमात्राकाल लगता है। इस प्रकार ये पाँच गुण (आकुञ्चन, प्रसारण, संश्लेष, विश्लेष, अवयवसंकोच) एक अकार के अनेकाकारतासम्पादक बनकर वर्णसमाम्नाय की उत्पत्ति में कारण होते हैं। वर्णसमाम्नाय की उत्पत्ति के कारण इन पाँच गुणों को बतलाने के लिए इस वर्णसमाम्नाय की प्रक्रमस्थान, मुखस्थान, काल, करणप्रयत्न तथा अनुप्रदान प्रयत्न से व्याख्या करेंगे।

१. प्रक्रमस्थान से वर्णभेद—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।। ऋ. १। १६४। ४५।

यह वेद में कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणवायु वाग्रूप में परिणत होने के लिए प्रक्रम करती हुई चार प्रक्रम-पदों की अपेक्षा करती है। वे चार प्रक्रमपद नाभि, उरस्, शिरस् और मुख हैं। नाभि प्राणवायु का प्रथम पद है। वहाँ से चल कर वह उरःस्थल में, कण्ठ में या शिरःस्थान में टकरा कर प्रथम प्रक्रम को समाप्त कर लेती है। उरःस्थल में या कण्ठ में प्रथम प्रक्रम की पूर्ति होने पर वहाँ से चल कर वह शिरःस्थान में टकरा कर द्वितीय प्रक्रम को समाप्त करती है। शिरःस्थान से चलकर मुखःस्थानों में आघात प्राप्त कर वह तृतीय प्रक्रम समाप्त करती है। मुखस्थान से फिर चतुर्थ प्रक्रम में वह वर्ण-रूप में परिणत होकर मुख से निकलती है। जैसा कि भगवान् पाणिनि ने कहा है:—[1]आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को प्राप्त कर (जानकर) उनको दूसरे

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
कण्ठे तु मध्यमं शीर्ष्णि तारं जनयति स्वरम् ॥२॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥३॥
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत ॥४॥

को बतलाने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है। मन कायाग्नि (जठराग्नि) पर आघात करता है। कायाग्नि प्राणवायु को प्रेरित करता है। प्राणवायु उरःस्थल में आहत होकर मन्द्रस्वर को उत्पन्न करता है। कण्ठ में टकराने पर मध्यम-स्वर को तथा शिरःस्थान में टकराने पर तारस्वर को उत्पन्न करता है। वह उदीर्ण प्राणवायु शिरःस्थान में टकरा कर मुख में पहुँचता है। और भिन्न-भिन्न स्थानों में संयोग के कारण भिन्न-भिन्न वर्णों को उत्पन्न करता है। उन वर्णों का विभाग पाँच प्रकार से होता है। स्वर से, काल से, स्थान से, प्रयत्न से व अनुप्रदान से ऐसा वर्णरहस्यवेत्ता कहते हैं, उनको सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए।

वहाँ नाभि, उरःस्थान तथा शिरःस्थान ये तीन पद गुहानिहित हैं अर्थात् स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। और मुखस्थान वर्णों के उच्चारण में उपयोगी हैं। नाभिस्थान में प्राणवायु बनता है। उरःस्थान में वायु स्वररूप में परिणत होती है। शिरःस्थान में स्वर ध्वनिरूप में तथा मुखस्थानों में ध्वनि वर्णरूप में परिणत होती है। अतः प्रारंभ के तीन पदों (नाभि, उरस्, व शिरस्) में वाणी के वाग् रूप प्राणवायु की वर्णरूप से अभिव्यक्ति नहीं होती। किन्तु चतुर्थ मुख-स्थान में वाक् को स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। इस प्रतीतिगम्य अर्थ को उपर्युक्त श्रुति बतला रही है।

पहले उरस्, कण्ठ, शिरस् भेद से तीन स्थान बतलाये गये हैं। इन तीन स्थानों की बलतारतम्य से उपपत्ति है। वर्णों को उच्चारण करने की इच्छा से प्रयुक्त प्राणवायु कम बल से गति करता है तो उरःस्थान में उचित (मध्यम) बल से कण्ठस्थान में तथा बलाधिक्य से शिरःस्थान में गमन करता हुआ प्रथम प्रक्रम को समाप्त कर देता है। अतः शिरःस्थान में ही जब इस प्राणवायु के प्रथम प्रक्रम की समाप्ति होती है तब तीन ही प्रक्रम-पद बनते हैं। मुख से बहिर्भूत इन प्रक्रमस्थानों को नारद ने सवन-नाम में व्यवहृत किया है:—

उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि साम्नि चाप्यधरोत्तरे॥

अर्थात् वाङ्मय में उरस्, कण्ठ व शिरस्: ये तीन स्थान हैं। इनको सवन कहते हैं। इन्हीं तीन सवनों से त्रैस्वर्य की उपपत्ति होती है। अर्थात् नाभि प्रदेश से उत्थित वायु यदि उरःस्थान में पहुँच कर तत्पश्चात् आगे चल कर मुख में

आकर वर्णभाव में परिणत होता है, तो उस वायु का यह प्रक्रम प्रातःसवन कहलाता है। वहाँ मन्द्रस्वर उत्पन्न होता है। वह स्वर उरःस्थानीय अनुदात्त है। यदि कण्ठ में टकरा कर फिर मुख-प्रदेश में पहुँच कर वर्ण-रूप में परिणत होता है, तो मध्यन्दिन सवन होता है। वहाँ मध्यम स्वर उत्पन्न होता है। वह कर्णमूलीय स्वरित स्वर होता है। यदि उस वायु का प्रथम प्रक्रम शिरः-स्थान में समाप्त होता है तो वह तृतीय सवन कहलाता है। वहाँ तार स्वर उत्पन्न होता है वह स्वर शीर्षस्थानीय उदात्त है। प्रातःकाल मन्द्र (अनुदात्त) वाणी से पाठ करे, माध्यन्दिन सवन में मध्यम वाणी से तथा तृतीय सवन में तार (उदात्त) वाणी से पठन करें। इसीलिए भगवान् ऐतरेय ने कहा है:—

[1]जब यह सूर्य प्रातः उदित होता है, तब प्रमन्द तपता है, अतः प्रातः सवन में मन्द्र (अनुदात्त वाणी से) ऋङ्मन्त्र का उच्चारण करे। जब सूर्य आगे बढ़ता है तब तीव्रता से तपता है, अतः मध्यन्दिन सवन में तीव्र वाणी से शंसन करे। जब सूर्य और भी आगे बढ़ता है तब और भी तीव्रता से तपता है, अतः तृतीय सवन में तीव्रतम (उदात्त) वाणी से शंसन करे।

[2]पाणिनि ने भी कहा है ,कि प्रातःकाल सिंह स्वर के सदृश उरःस्थान स्थित स्वर से मन्त्रों का पाठ करे, मध्याह्न में चकवे के शब्द के सदृश कण्ठस्थान-स्थित स्वर से पाठ करे और सायं सवन में मयूर, हंस तथा कोकिल के स्वर के

---

१. "यदा वा एष प्रातरुदेति—अथ मन्द्रं तपति।
तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रातःसवने शंसेत् ॥१॥
अथ यदाऽभ्येति—अथ बलीयस्तपति।
तस्माद् बलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शंसेत् ॥२॥
अथ यदाऽभितरामेति—अथ बलिष्ठतमं तपति।
तस्मात् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शंसेत् ॥३॥
यदि वाच ईशीत। वाग् हि शस्त्रम्। यया तु वाचोत्तरोत्तरण्योत्सहेत—
समापनाय, तथा प्रपद्येत। एतत् सुशस्ततममिव भवति।" (ऐ. ब्रा. १४ अ. ४४)

२. प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन। स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसंनिभेन ॥१॥
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥२॥

सदृश शिरःस्थानस्थित नाद से पाठ करे, अर्थात् सायंकाल तृतीय सवन में शिरःस्थित स्वर का प्रयोग करना चाहिए। उपरिबोधित सवनों में प्रतिपादित स्वर के या नाद के विरुद्ध में उच्चारण करने वाले पुरुषों का उदात्तप्रधानता में उरःक्षत, स्वरितप्रधानता में स्वरभङ्ग तथा अनुदात्तप्रधानता में मूर्च्छा हो जाती है।

सवनों के अनुसार तथा पदानुसार सब स्वरों का उच्चावचभाव (निम्नोन्नतभाव) से उच्चारण करने पर उच्चारण में सुन्दरता प्रतीत होती है। प्रक्रम भेद से तीन स्वरों का भेद होता है। तीन स्वरों के भेद से अकारादि अक्षरों के भी तीन भेद हो जाते हैं। वे तीन स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित हैं, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

कोई तीन स्वरों से भिन्न एक प्रचयनामक स्वर की सत्ता और मानते हैं। इसीलिए पाणिनि ने कहा है:

[1]हृदयस्थान में अनुदात्त का, शिरःस्थान में उदात्त का, कर्णमूल में स्वरित का तथा आस्य (मुख) में प्रचय स्वर का उच्चारण होता है ॥१॥

प्रदेशिनी को उदात्त, मध्याङ्गुलि को प्रचय, अनामिका को स्वरित तथा कनिष्ठिका को अनुदात्त समझना चाहिए ॥२॥

यद्यपि[2] प्रदेशिनी के मूलभाग पर रखा हुआ अंगुष्ठ उदात्त को, अनामिका के मध्य में अंगुष्ठ स्वरित को तथा कनिष्ठिका के अन्तिम भाग पर रखा हुआ अंगुष्ठ अनुदात्त को बोधित करता है। इस वचन में प्रचय-स्वर का उल्लेख नहीं किया है, तथापि पाणिन्यादि वाक्यों से मध्यमा अंगुलि में उसका निर्देश मिलता है। अतः उसे मानना ही चाहिए।

"उच्चैस्तरां वा वषट्कारः। इत्यादि वचनों में उदात्ततर स्वर का भी

---

१. अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥१॥
उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम्।
कनिष्ठां निहतं विद्यात् स्वरितं चाप्यनामिकाम् ॥२॥

२. उदात्तमायाति वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा।
उपान्त्यमध्ये स्वरितं धृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥

उल्लेख मिलता है : इसी तरह अनुदात्ततर स्वर का भी। क्योंकि उदात्ततर स्वर की तरह अनुदात्ततर स्वर को मानना भी उचित है। इसीलिए भगवान् [1]नारद ने कहा है—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा निघात ये पाँच स्वर के भेद हैं। एक श्रुति भी भिन्न स्वर है। इसीलिए 'एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ' यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु। इत्यादि सूत्रों में त्रैस्वर्य को बोध कर एकश्रुति का विधान किया है।

वस्तुतः ये उदात्ततरादि स्वर त्रैस्वर्य से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि उदात्त का तरतमभाव से उच्चारण करने पर उदात्ततर, उदात्त व प्रचित ये तीन भेद हो जाते हैं। अतः स्वर की सूक्ष्मता के प्रदर्शन के अनुरोध से तीन भेद होने पर भी उदात्ततर और प्रचित उदात्त से पृथक् नहीं हैं। जैसा कि [2]भगवान् नारद ने कहा है:—उदात्त ही स्वरित से परे होने पर प्रचय कहलाता है, वह पृथक् स्वर नहीं है :

उदात्त और स्वरित के मध्यवर्ती होने से प्रचित स्वर को कितने ही उदात्त मानते हैं। दूसरे प्रचित का स्वरित में अन्तर्भाव मानते हैं। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है:—[3]उच्च (उदात्त) तथा अनुदात्त के योग होने पर स्वरित स्वर कहलाता है। उनकी एकता को प्रचय-स्वर कहते हैं। एकश्रुति भी त्रैस्वर्य व्यवस्था का अपवाद है, त्रैस्वर्य का नहीं। बिना त्रैस्वर्य के तो अक्षर का उच्चारण ही नहीं हो सकता। अतः स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित तीन ही हैं। शेष सभी स्वरों का इन्हीं में अन्तर्भाव है।

साममन्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद भेद से जो सात स्वर बतलाये गये हैं वे भी उदात्तादि तीन स्वरों से अतिरिक्त नहीं हैं।

---

१. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचितस्तथा
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदास्तु पञ्चधा ॥

२. य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात्परः।
प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्न चात्रान्यत् स्वरान्तरम् ॥

३. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वर उच्यते।
ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेषां मियोऽद्भुतः ॥

क्योंकि [1]निषाद व गान्धार उदात्तप्रभव, ऋषभ व धैवत अनुदात्तप्रभव तथा षड्ज, मध्यम व पंचम स्वरितप्रभव माने गये हैं। इस प्रकार पाणिन्यादि ने उन सातों का उदात्तादि तीन स्वरों में ही अन्तर्भाव कर दिया है। याज्ञवल्क्य आदि ने भी इसी तथ्य को स्वीकृत किया है। उन्होंने कहा है कि [2]गन्धर्व वेद में जो षड्ज आदि सात स्वर बतलाये गये हैं, वे ही वेद के उदात्तादि तीन स्वर हैं। निषाद व गान्धार को उदात्त, ऋषभ तथा धैवत को अनुदात्त, षड्ज, मध्यम व पंचम को स्वरित जानना चाहिए।

वस्तुतः तो उदात्तादि स्वरों का कारण प्रक्रमगत उच्चत्व नीचत्वादि हैं। तथा षड्जादि स्वर ध्वनिरागभेद-मूलक हैं। यही उदात्तादि तथा षड्जादि स्वरों में मौलिक भेद है। जैसा कि नारद ने कहा है—

[3]मयूर षड्ज स्वर में बोलता है, गायें ऋषभ स्वर में रंभाती हैं। अज और अवि गान्धार का उच्चारण करते हैं। क्रौंच मध्यम स्वर तथा वसन्त में कोकिल पंचम स्वर बोलती है। घोड़ा धैवत तथा हाथी निषाद स्वर का उच्चारण करता है। इन षड्जादि स्वरों के उच्चारणोपयोगी स्थानों का निर्देश विशेष रूप से नारदशिक्षा में किया गया है। ये सातों स्वर संगीत में उपयोगी हैं। साधारण उच्चारण में इनका कोई विशेष उपयोग नहीं है। अतः इनका विशेष विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। सर्वसाधारण उदात्तादि तीन स्वर ही हैं। इन तीनों स्वरों में लिपिभेद यद्यपि नहीं है, तथापि अनुदात्त को अक्षर के नीचे तिरछी रेखा (अ॒) के द्वारा, स्वरित को ऊपर तिरछी रेखा (अ॑) के द्वारा,

---

१. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

२. गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः॥
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

३. षड्जं वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम्।
अजाविके तु गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो वक्ति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः॥

उदात्त को ऊपर दण्डाकार रेखा (अ̍) के द्वारा तथा प्रचय को स्वरित व उदात्त की मिली हुई रेखाओं (अ̍) के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार स्वरों की यह अनुभवगम्य त्रिविधता प्रक्रमभेद के द्वारा मालूम करनी चाहिए।

२. मुखस्थान से वर्णभेद

संयोग, विभाग व शब्द से शब्द की उत्पत्ति भगवान् कणाद बतलाते हैं। वहाँ संयोग में जो स्थायी भाव है वही संयोग का प्रतियोगी है। इसे ही स्थान कहते हैं। संयोग में जो संचारी भाव है वही संयोग का अनुयोगी है। उसे करण कहते हैं। ये स्थान और करण बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के हैं। वायु के प्रक्रम में मुख में आने से पहिले जो वायु के स्थान और करण हैं वे बाह्य हैं। और मुखप्रदेश के अन्दर वर्त्तमान स्थान और करण आभ्यन्तर कहलाते हैं। बाह्य स्थान उरः, कण्ठ व शिरोभेद से तीन हैं। मुख में कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठभेद से पाँच स्थान हैं। जिह्वा का मूलभाग कण्ठ है। मुख में दन्त व उलूखल स्थान के पूर्व भीतरी प्रदेश में झुका हुआ जो प्रदेश है उसका पूर्व पार्श्व तालुमूलस्थान है। उसी का पश्चिमपार्श्व मूर्धा स्थान है। उसके अत्यन्त समीप का पश्चिम भाग दन्तमूल स्थान है। उत्तर (ऊपर का) ओष्ठ ओष्ठ-स्थान हैं। इन पाँचों स्थानों में क्रमशः जिह्वामूल, जिह्वाग्र मध्यभाग, जिह्वा का उपाग्र भाग, जिह्वा का अग्रभाग तथा अधरोष्ठ इन पाँचों करणों का संयोग होने पर सब वर्ण उत्पन्न होते हैं।

वायु जिस मात्रा में जिस प्रक्रम से आरम्भ होकर कण्ठ स्थान में पहुँच कर अकार बनती हैं। उसी मात्रा में उसी प्रक्रम से प्रारम्भ होकर तालुस्थान में पहुँच कर वह इकार बनती है। इसी प्रकार मूर्धस्थान में ऋकार, दन्तमूल में ऌकार तथा ओष्ठ में उकार बनती है। एक ही प्राणवायु भिन्न-भिन्न स्थानों में पहुँच कर अकार, इकार, ऋकार, ऌकार व उकार इन भिन्न-भिन्न स्वरूपों में परिणत हो जाती है। अतः एक ही अकार अक्षर के, स्थानभेद के कारण ये पंचविध रूप बन जाते हैं। यहां प्रक्रमभेद से भिन्न-उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरों का समान रूप से कण्ठादि स्थानों से सम्बन्ध है। अतः इनके पाँच ही स्थान सिद्ध होते हैं। उदात्तादि भेदों के कारण स्थानादि का भेद नहीं होता।

[1]कितने ही ऐसा मानते हैं कि मुखादिकण्ठभाग में कृकाटिका, जिह्वामूल व कर्णमूल ये तीन स्थान हैं। मुखमध्यभाग में तालु, मूर्धा व दन्तमूल ये तीन स्थान हैं। मुखान्त्यभाग में सृक्का, उपध्मा व ओष्ठ ये तीन स्थान हैं। सारे मुख में अनुगत नासानाडी नासिका स्थान है। इस प्रकार वर्णों के दश आभ्यन्तर स्थान हैं। इनमें सृक्का व उपध्मा, जो कि ओष्ठ के पास हैं, का ओष्ठ में ही अन्तर्भाव है।

भगवान् पाणिनि ने उरः, कण्ठ, शिरस्, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु ये आठ वर्णस्थान बतलाये हैं। उनमें उपर्युक्त कण्ठ, तालु, शिरः, दन्त, ओष्ठ इन स्थानों से उरस्, जिह्वामूल तथा नासिका ये तीन अधिक हैं। इनमें [2]वर्गों के पंचम वर्णों तथा अन्तस्थ वर्णों से संयुक्त हकार का (उरःस्थान) है तथा असंयुक्त हकार का कण्ठस्थान है। इस नियम के अनुसार ह्व, ह्ल, ह्म, ह्य, ह्ल, ह्ल, ह्व में हकार का उरःस्थान है। ᳵक ᳵख में ककार व खकार से पूर्व उच्चारित अर्ध-विसर्ग-सदृश हकार का जिह्वामूल स्थान है। ये दोनों स्थान कण्ठ के समीपस्थ अवान्तर प्रदेश होने से कण्ठ में ही अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार कृकाटिकामूल, जिह्वामूल व कर्णमूल के कण्ठ के अवान्तरप्रदेश होने से कण्ठ स्थान से ही इनका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार पाँच ही स्थान अवशिष्ट रहते हैं। नासिका का भी कण्ठादि पाँच स्थानों से युक्त होने के कारण कण्ठादि स्थानों के समीप होने से कण्ठादि स्थानों से ही उसका ग्रहण है और उन्हीं में उसका अन्तर्भाव है। इस प्रकार अवान्तर भेदों को पृथक् स्थान मानने पर दश और संक्षेप में पाँच ही स्थान हैं। नासिकास्थान का इतर पाँच कण्ठादि स्थानों के साथ कोई विरोध न होने से मुख तथा नासिका से उच्चरित पाँच स्वर और बन जाते हैं:—अँ-इँ-ऋँ-लृँ-उँ। ये पाँच अनुनासिक स्वर हैं। ऋकार व लृकार में स्वरभक्ति के नासिक्य होने से अनुनासिकता है।

३. काल से वर्णभेद

अकार के उच्चारण में जितना काल लगता है उस काल को मात्रा कहते

१. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

२. हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥

हैं। [1]औदव्रजि ने निमेषकाल को तथा [2]नारद ने निमेषकाल अथवा विद्युदुन्मेष काल को मात्रा कहा है। इस मात्रा के तारतम्य से वर्णों की मात्राओं का नियमन है। अकार जब अकार से मिलता है तब परतोयोग से वह द्विमात्रिक अर्थात् दीर्घ हो जाता है। द्विमात्रिक को ही दीर्घ कहते हैं। अकार का जब आकार से मेल होता है तब वह स्वभाव से अभिनिहित हो जाता है। दोनों स्वरों के नाभिद्वय की एकता ही अभिनिधान है। अधिक बलवाले में स्वल्प बल वाले का विलयन स्वाभाविक है। अतः अकार की आकार से सन्धि (मेल) होने पर अधिक बल वाले द्विमात्रिक दीर्घ आकार में एकमात्रिक ह्रस्व अकार का विलयन होकर आकारमात्र ही शेष रह जाता है वह त्रिमात्रिक नहीं होने पाता। आकार का अकार से या आकार से मेल होने पर दोनों वर्णों के नाभिद्वय के सम्बन्ध से अभिनिधान हो जाता है। अतः द्विमात्रिकता ही उसमें रहती है, त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नहीं आती। क्योंकि परतोयोग के बिना वर्ण में त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नहीं आती। प्रयत्नविशेष के द्वारा परतोयोगविवक्षा में तो त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता भी बन सकती है। त्रिमात्र या चतुर्मात्र अक्षर की प्लुतसंज्ञा होती है। इस प्रकार मात्रा के तारतम्य से अकार के ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत ये तीन भेद हो जाते हैं। एक मात्रा से उच्चारित अकार ह्रस्व, द्विगुण मात्रा से उच्चारित दीर्घ तथा त्रिगुण या उससे अधिक मात्रा से उच्चारित स्वर प्लुत कहलाता है। इस प्रकार इकारादि वर्णों में मात्रातारतम्य के कारण यह त्रिविधता होती है। लृकार में द्विमात्रता नहीं होती। अतः जहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से त्रिविध अकारादि वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से प्रत्येक के तीन भेद होकर ९, ९ भेद हो जाते हैं, वहाँ लृकार के ६ ही भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही अकार के प्रक्रम-भेद से उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद, पांच स्थानों के भेद से अ, इ, ऋ, लृ, उ ये भेद तथा मात्राभेद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन भेद होते हैं। ये ४२ भेद विशुद्ध अर्थात् निरनुनासिक अकार के हैं। इतने ही भेद सानुनासिक के होते हैं। इस प्रकार ८४ भेद अकार के हो जाते हैं।

---

१. निमेषकालो मात्रा स्यात्। इत्यौदव्रजिः।

२. निमेषकालो मात्रा स्यात् विद्युत्कालेति चापरे। नारदः।

४. आभ्यन्तर प्रयत्न से वर्णभेद

मुख के अन्दर कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ इन पाँचों स्थानों में जिह्वामूलभाग आदि करणों का संयोग के लिए जो प्रयत्न है, उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट तथा विवृत भेद से दो प्रकार का है। जिस प्रयत्न से स्थानों में करणों के स्पर्श का तारतम्य होता है, उसे स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं:—

(१) अ, इ, ऋ, लृ, उ — ये अस्पृष्ट स्वर हैं।

(२) ऽ य र ल व — ये ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण हैं।

(३) अ़ य़ ड़ द़ ब़ — ये दुःस्पृष्ट अन्तःस्थ वर्ण हैं।

(४) ग ज ड द व — ये मृदुस्पृष्ट स्पर्श वर्ण हैं।

विवृत को विवरण या संप्रसारण कहते हैं। जिस प्रयत्न से स्थानों से संयोगकाल में करण तरतमभाव से (न्यूनाधिक भाव से) सम्प्रसारित होते हैं, वह स्पर्श विरोधी धर्म विवृत कहलाता है। अतः विवृत प्रयत्न में स्पर्श का अभाव होता है। इसीलिए अ, इ, ऋ, लृ, उ — ये पूर्ण विवृत स्वर हैं। इनमें स्थान व करण के स्पर्श का सर्वथा अभाव है। स्थानों में करण स्पर्श के लिए जितना प्रयत्न करते हैं, उतनी ही विवृत प्रयत्न में कमी आती है। स्पर्श की न्यूनाधिकता से विवृत में न्यूनाधिकता होती है।

सम्प्रसारित स्थान करण वाले वर्णों में एक-एक वर्ण की जितनी मात्रा होती है, उसके अर्धांश का ह्रास होने पर विवृतार्ध प्रयत्न द्वारा इनमें संकोच हो जाता है। और तब वे एकमात्रिकतारूप स्वर से च्युत होकर अर्धमात्रिक व्यंजन हो जाते हैं। जैसे— ऽ य र ल व ये अर्धविवृत अन्तस्थ वर्ण व्यंजन हैं। इन पाँचों अन्तस्थवर्णों में प्रथम वर्ण विवृत्ति है। यह अर्धमात्रिक वर्ण है। अभिनिधान, सन्ध्यक्षर, उष्मान्तःस्थ गति में विवृत्ति होती है। जैसे— हरेऽव, विष्णोऽव यह अभिनिधान स्थान है। ए, ओ ये सन्ध्यक्षर स्थान हैं। इकार व अकार की सन्धि होने पर जैसे इकार, पर अर्ध मात्रा से च्युत हो जाता है। उसी प्रकार अकार व इकार की सन्धि होने पर पूर्व अकार, पर अर्धमात्रा से रहित होकर अर्धमात्र अकार शेष रह जाता है। जैसा कि पाणिनि ने कहा है—

[1]एकार, ओकार में कण्ठस्थानीय अकार की अर्धमात्रा ही शेष रहती है। यह अकार अर्धमात्र होने से व्यंजन है। और पूर्ण स्पृष्ट न होने से स्वर भी है। इस प्रकार स्वर व व्यंजन दोनों के धर्मों के सम्वन्ध से यह अन्तःस्थ कहलाता है। विवृत्ति का तीसरा स्थान उष्मान्तःस्थगति है। जैसे—'सदच इह, हर इह, विष्ण इह' इन उदाहरणों में है। 'सदच इह' में ऊष्म हकार या विसर्ग अर्धमात्र विवृत्यकार हो जाता है। इसीलिये पाणिनि ने कहा है:—

[2]हकार की-ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वामूल और उपध्मा ये ८ गतियाँ हैं। वह विवृत्यकार व्यंजन है। उसके कारण पूर्व अकार तथा इकार का विच्छेद हो जाने से उनमें स्वरसन्धि नहीं होती। इसी प्रकार हर इह, विष्ण इह, इन उदाहरणों में अन्तःस्थ य और व विवृत्यकार वन गये हैं। उस व्यंजन से विच्छेद होने के कारण स्वरसन्धि नहीं होती है। यहाँ विवृत्ति का स्वरूप दोनों स्वरों के मध्य में विच्छेद ही हैं। शाकल्य ने यहाँ य और व का लोप माना है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि वर्णलोप होने पर स्वरसन्धि अवश्य होती। वैयाकरणों द्वारा कल्पित 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से यकार-लोपादि को असिद्ध मानकर सन्ध्यभाव बतलाना बालशिक्षोपयोगी कल्पनामात्र है। क्योंकि शास्त्रीय प्रक्रियाविशेष की शब्दोच्चारणविशेष के आधान में सामर्थ्य नहीं है। शास्त्र केवल शब्द की स्थिति का वोधक होता है न कि शब्दस्थिति का जनक। इसलिए 'हर इह' इत्यादि स्थलों में यकारादि-लोप-प्रक्रिया से पाणिनि को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने 'लोपः शाकल्यस्य' कहा। अर्थात् लोप द्वारा सन्ध्यभाव का प्रतिपादन शाकल्य का मत है न कि पाणिनि का। पाणिनि के मत में तो य और व के स्थान में विवृत्ति रूप वर्णादेश होता है। उस विवृत्यकार के द्वारा विच्छेद होने से अकार व इकार में सन्धि नहीं होती। इन अन्तस्थ वर्णों को मुख व नासिका दोनों स्थानों से उच्चारण करने पर यँ वँ लँ ऐसे अनुनासिक वर्ण होते हैं। रेफ नासिक्य नहीं होता। और विवृत्ति भी नासिक्य नहीं होती। अ़ य़ ड़ ऴ व़ ये ईषद्विवृत अन्तस्थ वर्ण हैं। इनमें पहिला वर्ण 'अ़' संवृत अकार है। 'ऐ', और 'औ' में जो अकारोच्चारण की प्रतीति होती है वह संवृत अकार है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है:—

---

१. अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्। पा० शि०।
२. ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥ पा० शि०

[1]एकार व ओकार में आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण की तथा ऐकार व औकार में भी आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण अकार की है। ये चारों वर्ण विवृत व संवृत उभयात्मक हैं। संवृत एकमात्रिक होता है और विवृत द्विमात्रिक होता है।

[2]पाणिनि ने स्वरों व ऊष्म वर्णों का विवृत करण माना है। ए और ओ को विवृततर तथा ऐ औ को विवृततम बतलाया है। वह सन्ध्यक्षरता के कारण बतलाया है। और संवृतत्वकथन ओकार के एक प्रदेश (अकार) की अपेक्षा से किया है। एकारादि सन्ध्यक्षरों में संवृत अन्तःस्थ अकार मध्यम में विद्यमान है अतः इन में स्वरत्व नहीं रहेगा यह भ्रम निराधार है। क्योंकि विवृततरत्व व विवृततमत्व के कारण उनका स्वरत्व अक्षुण्ण है। म्लेच्छ भाषा-लिपि में भी दो प्रकार के अकार हैं। जैसे—पारसी लिपि में विवृत अकार का (।) अलिफ शब्द से तथा संवृत अकार का 'अयन' 'ع' शब्द से उल्लेख किया है। 'अ अ' इस सूत्र का निर्माण करते हुए भगवान् पाणिनि ने भी अकार के इस द्वैविध्य का उपदेश किया है। उन दोनों अकारों में संवृत अकार अन्तस्थ है क्योंकि वह व्यंजन है। और दूसरा अकार स्वर होने से विवृत है क्योंकि [3]स्वर और ऊष्म वर्णों का विवृत प्रयत्न पाणिनि ने बतलाया है।

'ऐ औ' इत्यादि में पृथक् रूप से अकारोच्चारणप्रतिबन्ध के लिए उसके उच्चारण में प्रयत्नविशेष की अपेक्षा होने से ऐकार औकार के अन्तर्गत अकार को दुःस्पृष्ट अकार मानना चाहिये। ईषत्स्पृष्ट व पूर्ण स्पृष्ट वर्णों के बीच मध्यम वृत्ति से स्पर्शसिद्धि के लिए प्रयत्नविशेष की वहाँ अपेक्षा है। ग, ज, ड, द, ब विवृत रहित स्पर्श हैं। यदि ये पाँचों स्पर्श वर्ण मुख व नासिका दोनों स्थानों से उच्चारित किये जाते हैं तो स्थान-द्वय-योगी बनकर ङ, ञ, ण, न, म ये वर्ण बन

---

१. अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत् ।
ऐकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम् ॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम् । (पा० शि०)

२. स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥ पा. शि.

३ स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् । पा. शि. ।

जाते हैं। शुद्ध स्पर्शों की तरह ये नासिक्य वर्ण भी पूर्ण स्पृष्ट व विवृतप्रयत्न-रहित ही हैं।

५. बाह्य-प्रयत्न से वर्णभेद

वर्णरूप में परिणत होने से पूर्व की अवस्था में विद्यमान वर्णों का उपादानभूत वायु अनुप्रदान कहलाता है। मुख स्थान से बहिर्भूत उरः, कण्ठ व शिरः स्थान में संयोग के लिए वर्णोपादानभूत वायुरूप अनुप्रदान का जो प्रयत्न है, वह बाह्य प्रयत्न है। यह बाह्य प्रयत्न दो प्रकार का है संवार, नाद, घोष भेद से तीन प्रकार का प्रथम है और विवार, श्वास, अघोष भेद से त्रिरूप द्वितीय है। जिस उच्चारण में अनुप्रदान मृदु होने से बाह्य नली को फैलने नहीं देता है वह संवार कहलाता है। और खर होने से जो अनुप्रदान कण्ठनली को फैला देता है वह विवार है। जिस उच्चारण में वर्णस्वरूप का आरम्भ करने के लिए अनुप्रदान में वायु की मात्रा अधिक होती है और प्राणरूप अग्नि की मात्रा कम होती है उसे श्वास प्रयत्न कहते हैं तथा प्राणरूप तेज की मात्रा जहाँ अधिक और वायु की मात्रा न्यून होती है, उसे नाद कहते हैं। जिस प्रयत्न में दृढ़ अंग-बन्धन से उच्चारित वर्ण में प्रतिध्वनियोग्यता कम होती है, वह अघोष कहलाता है तथा जिस प्रयत्न में शिथिल अंगबन्ध के कारण वर्ण में प्रतिध्वनियोग्यता अधिक होती है उसे घोष कहते हैं। इनमें संवार, नाद व घोष परस्पर उपकारक होने से अविनाभूत हैं। अर्थात् जहाँ एक रहता है वहाँ शेष दो भी अवश्य रहते हैं। अतः इन प्रयत्नों के संख्या में ६ होने पर भी तीन-तीन के परस्पर अविनाभूत होने से वस्तुतः अनुप्रदान प्रयत्न के दो ही भेद हैं। इसलिए संवार, नाद, घोष रूप बाह्य प्रयत्न वाले अ, य, र, ल, व, अ़, य़, ड़, ळ, व़, ग, ज, ड, द, ब, ङ, ञ, ण, न, म वर्ण सिद्ध हो जाते है। ये ही वर्ण जब विवार श्वास अघोष रूप अनुप्रदान से युक्त होते हैं तब क, च, ट, त, प हो जाते हैं। विवार, श्वास, अघोष प्रयत्नों का नासानाडी से विरोध है अतः क, च, ट, त, प, नासिक्य नहीं होते। अतः ङ, ञ, ण, न, म वर्ण भी जब श्वास प्रयत्न से युक्त होंगे, तो विशुद्ध क च, ट, त, प में ही परिणत होंगे न कि नासिक्य क, च, ट, त, प में।

[1]पाणिनि ऽ य र ल व इन अन्तस्थ वर्णों तथा ग, ज, ड, द, ब इन वर्णों

ईषन्नादा यण् जशो नादिनो हझषः स्मृताः।
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात् श्वासिनस्तु खफादयः॥ (पा॰ शि॰)

श्वास है। पूर्ण स्पृष्ट प्रयत्न वाले क, च, ट, त, प वर्ण यदि आभ्यन्तर प्रयत्न में अर्द्धस्पृष्ट रूप से उच्चारित होते हैं तो वे श, ष, स, ह ये ऊष्म वर्ण हो जाते हैं। यद्यपि क, च, ट, त, प पाँच वर्ण हैं और ऊष्म वर्ण श, प, स, ह भेद से चार ही हैं, तथापि अर्ध स्पृष्टरूप से उच्चारण करने पर क और प दोनों वर्ण हकाररूप में ही परिणत होते हैं, अतः ऊष्म वर्ण चार ही हैं। श, ष, स, ह ये नासिक्य नहीं होते। क्योंकि विवार, श्वास व अघोष बाह्य प्रयत्न नासा नाडी के विरोधी हैं। पाणिनि ने भी 'अमोऽनुनासिका न ह्रौ' इस उक्ति के द्वारा नादप्रयत्न वाले रेफ व हकार की तथा श्वास प्रयत्न वाले सभी वर्णों की अनुनासिकता का निषेध किया है। इस प्रकार द्विविध बाह्य प्रयत्नों से ३४ वर्ण निष्पन्न होते हैं। उनमें आदि के ५ स्वर (अ, इ, ऋ, लृ, उ,) तथा २६ व्यंजन (अ, य, र, ल, व, अ़, य़, ऱ, ळ, व़, ग, ज, ड, द, ब, ङ, ञ, ण, न, म, क, च, ट, त, प, श, प, स, ह) सम्मिलित हैं।

सन्ध्यक्षरों के स्थान व प्रयत्न

यौगिक वर्णों में दो सवर्णों (समान स्थान व समान आभ्यन्तर प्रयत्न वालों) के योग में स्थानभेद नहीं होता है। अतः ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत वर्णों का स्थान समान ही होता है। अतः अ, आ, अ ३ ये तीन कण्ठ्य हैं। इ, ई, इ ३ ये तीनों तालव्य हैं। इसी प्रकार ऋकारादि वर्णों में भी समझना चाहिए। विभिन्न स्थान वाले वर्णों की संहिता में संध्यक्षर द्विस्थान वाले होते हैं। इसीलये पाणिनि ने कहा है:—

'ए ऐ तु कण्ठतालव्यावो औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ। इति।

हकार का पूर्व तथा पर दोनों प्रकार से संयोग होता है। वर्गों के पञ्चम वर्णों एवं अन्तस्थ वर्णों के परे होने पर हकार का पूर्व संयोग होता है और वहाँ हकार उरःस्थानीय होता है। जैसे ह्ण, ह्न, ह्म, ह्य, ह्र, ह्ल, ह्व में। क और ख के होने पर हकार का जिह्वामूल स्थान तथा प और फ के परे होने पर उपध्मा स्थान होता है, ऐसा शाकटायन मानते हैं। क, च, ट, त, प, ग, ज, ड, द, ब, ङ, ञ, ण, न, म तथा र, ल, ड़ ऴ से परे जब हकार होता है तब उसका परसंयोग होता है और उस समय हकार आश्रयस्थानभागी होता है। इससे क, च, ट, त, प से हकार का संयोग होने पर ख, छ, ठ, थ,

फ एवं ग, ज, ड, द, ब से पश्चात् हकार का संयोग होने पर घ, झ, ढ, ध, भ वर्ण निष्पन्न होते हैं। इसीलिये पाणिनि ने कहा है:—

[1]अ और ह कण्ठस्थानीय है। इकार, चवर्ग, य और श तालव्य हैं। उ और पवर्ग ओष्ठ्य हैं। ऋ, टवर्ग, र, ष मूर्धन्य हैं। लृ, तवर्ग, ल, स दन्त्य हैं। कवर्ग जिह्वामूलस्थानीय है। ङ, ण. न, म तथा र और ल लोकभाषा में सोष्म उपलब्ध होते हैं। जैसे साङ्हा, कान्हा, साम्हर, गेल्हा आदि शब्दों में। छन्दोभाषा में सोष्म ङकारादि का प्रयोग नहीं मिलता। अतः कात्यायन ने उन वर्णों को सोष्म वर्णों में गणना न कर दश वर्णों को ही सोष्म बतलाया है। अर्थात् [2]वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण सोष्म हैं। हकार यद्यपि अर्ध-स्पृष्ट है तथापि जिन ककारादि से इसका संयोग होता है वे पूर्ण स्पृष्ट हैं। अतः द्वितीय तथा चतुर्थ सोष्म वर्णों को भी पूर्ण स्पृष्ट ही माना जाता है। इसीलिए पाणिनि ने [3]स्वरों को अस्पृष्ट, य, र, ल, व को ईषत्स्पृष्ट, श, ष, स, ह को अर्ध-स्पृष्ट तथा शेष वर्णों को पूर्ण स्पृष्ट बतलाया है। इन सभी वर्णों के समान रूप से स्पृष्ट प्रयत्न वाले होने पर भी इनके बाह्य प्रयत्नों में भेद है। वर्गों के प्रथम-क, च, ट, त, प तथा तृतीय-ग, ज, ड, द, ब अल्पप्राण हैं एवं वर्गों के द्वितीय-ख, छ, ठ, थ, फ एवं चतुर्थ-घ, झ, ढ, ध, भ महाप्राण हैं।[4]

श्री मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्रन्थ में गुणपरिष्कार नामक तृतीय प्रपाठ की हिन्दी-व्याख्या समाप्त ॥ ३ ॥

---

१. कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठो वः स्मृतो बुधैः। पा० शि०।

२. 'द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः। इति।

३ अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः॥ पा० शि०॥

४. ईषन्नादा यण् जशो नादिनो हझषः स्मृताः।
ईषच्छ्वासांश्चरोविद्यात् श्वासिनस्तु खफादयः॥ पा. शि.

अक्षरनिर्देशात्मक चतुर्थ प्रपाठ

मन्त्र को जानने की इच्छा वाला पुरुष प्रत्येक पद में स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा उनके प्रयोग तथा अर्थ को जाने। (१) वेद के अध्ययन से, उसके दान से, उसके श्रवण से तथा वेद के वर्णों अक्षरों विभक्तियों व पदों के ज्ञान से धर्म होता है। (२) इस कात्यायनोक्ति से यह स्पष्ट सिद्ध है कि वर्णज्ञानपूर्वक तथा अक्षरज्ञानपूर्वक वेदार्थज्ञान ब्राह्मणों का निष्कारण कर्त्तव्य है। वहाँ वर्णज्ञान का निरूपण हो चुका। अक्षरज्ञानसिद्धि के लिए इस प्रकरण का का आरंभ किया जाता है।

. ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण होता है। त्रिभेदभिन्न यह ब्रह्म विश्व बनता है। ब्रह्म के तीन भेद पर, अक्षर व क्षर हैं। दिग्, देश, काल से अनवच्छिन्न होता हुआ भी जो क्षर तथा अक्षर का आलम्बन (आधार) होने से मन की तरह परिच्छिन्न होता है वही अव्यय नामक परब्रह्म है। वही चिति के द्वारा मन, प्राण व वाग् बनता है। इस मनोमय अव्यय में अवलम्बित प्राणमय तथा क्षरों का संचालक कूटस्थ तत्व अक्षर[1] कहलाता है। अक्षर में अवलम्बित वाङ्मय यह समग्र भूतसमूह क्षर[2] कहलाता है। इन अव्यय (पर) अक्षर व क्षर से भिन्न कोई कोई तत्व संसार में नहीं है। अव्यय, अक्षर व क्षर तीनों पुरुष मिलकर एक पुरुष है। जिसे वेद में षोडशी कहा है। उस पुरुष को विशुद्ध आत्मा भी कह सकते हैं, विग्रहवान् आत्मा भी, तथा अनेक विग्रहवानों (शरीरधारियों) से बना हुआ स्कन्ध (भूतग्राम) भी। जो कुछ भूत व भव्य जगत् में दृष्टिगोचर होता है, वह पुरुष[3] ही है। वह पुरुष मनोमय, प्राणमय व वाङ्मय है।

वेद में कहा है कि 'अथो वागेवेदं सर्वम्'। अर्थात् सब कुछ वाक् ही है। वाग् आकाश को कहते हैं। वही वायु है, तेज है, जल है व पृथिवी है। यह पृथिवी जल पर प्रतिष्ठित है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश रूप वाक्तत्व में। इसलिये ये सब विकार (काय) वाक्तत्व से भिन्न नहीं हैं।

१. कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
२. क्षरः सर्वाणि भूतानि।
३. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

इसलिये जगत् में जो कोई भी भूतसमूह दिखाई देता है, वह सब वाक् ही हैं। इसलिये वेद में कहा है—'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' इति।

वे सब क्षर, अक्षर के अधीन हैं, अतः स्वतन्त्र नहीं रह सकते। इसलिये इनकी सत्ता का आधायक कोई स्वतन्त्र तत्व मानना होगा। वही तत्व अक्षर है। उसे ही प्राण कहते हैं। उस प्राण रूप अक्षर में अनन्त गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये गुणभेद से प्राणों के अनन्तविध होने पर भी पाँच प्रकार के स्थानों में रहने के कारण इस प्राण के पाँच भेद माने जाते हैं। ये ही पाँच प्रकार के प्राण पञ्च अक्षर कहलाते हैं। ये पञ्च अक्षर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि तथा सोम हैं। इन्हीं पाँच अक्षरों से वाङ्मय तथा सभी क्षरात्मक भूत-समूह उत्पन्न होते हैं। इन्हीं प्राणों के आधार से ये भूत प्रतिष्ठित रहते हैं तथा अन्त में उन्हीं प्राणों में विलीन हो जाते हैं। यह परब्रह्मविद्या है अर्थात् यह स्थिति परब्रह्म में है।

मन, प्राण, वाक् इन तीनों तत्वों में जिनको कि अव्यय, अक्षर, क्षर भी कहते हैं। यह वाक्‌तत्व भूतभाव, शब्दभाव व अर्थभाव रूप से तीन प्रकार से विनियुक्त होता है। वाग् रूप आकाश से वायु आदि क्रम से उत्पन्न भूतसमूह ही भूतमय प्रपञ्च है। यह वाक् का एक प्रकार का विनियोग है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' इस श्रुति के अनुसार वायु आदि भूतों में अनुप्रविष्ट वाग्रूप आकाश ही आघात से कम्पित होता हुआ, वायु से पृथक् होकर वायु के आधार से चारों दिशाओं में गोल (वृत्ताकार) वीचीतरंग को उत्पन्न करता है। वह नाद रूप से कम्पमान वागाकाश चलता हुआ श्रोता के श्रोत्रप्रदेश में पहुँचता है और श्रोत्रेन्द्रिय के प्रज्ञाभाग से मिलकर शब्द कहलाता है। यही शब्द शब्दमय प्रपञ्च तथा अर्थमय प्रपंच रूप से दो प्रकार से विनियुक्त होता है। यही बात वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कही है—

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ इति।

यह शब्दमय तथा अर्थमय दोनों प्रकार का प्रपंच वाङ्मय प्रपंच ही। यही वाक्‌तत्व का शब्दरूप तथा अर्थरूप इन दो प्रकारों से विनियोग है। इस शब्दमय तथा अर्थमयरूप वाङ्मय प्रपंच में वे ही प्रकार हैं जिन प्रकारों का

भूतमय प्रपंच में वर्णन किया है। वह वाङ्मय प्रपंच भूतमय प्रपंच से छोटा है क्योंकि यह भूतमय प्रपंच का एकदेश है। अतः परब्रह्म विद्या को जानने की इच्छा वाला पहिले शब्दमय ब्रह्मविद्या का परिशीलन करे। अल्पश्रम से ज्ञात यह शब्दविद्या महायाससाध्य परविद्या के ज्ञान में उपयोगी है इसीलिये मुण्डक श्रुति ने कहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

इस श्रुति में ब्रह्म शब्द का अर्थ विज्ञान है। वह विज्ञान शाब्दविज्ञान तथा परविज्ञान भेद से दो प्रकार का है। विज्ञान तथा अभिनिवेश के द्वारा ज्ञानप्राप्ति भगवान् गौतम मानते हैं। शब्दश्रवणाधीन अर्थज्ञान विज्ञान है। इसे ही शाब्द ब्रह्म कहते हैं। परीक्षा द्वारा साक्षात्काराधीन अर्थज्ञान को परब्रह्म कहते हैं। पूर्व परीक्षकों, पदार्थतत्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुषों के अधिगतार्थविषयक उपदेशरूप वाक्यार्थश्रवण में निष्णात पुरुष यदि परोक्षा के लिये प्रवृत्त होता है, तो उनका अभिनिवेशज्ञान समीचोन होता है। यह इस मंत्र का प्रथम अर्थ है। अन्य प्रकार से भी इस मंत्र की व्याख्या है—शब्द दो प्रकार से अर्थज्ञान कराता है- अभिधानरूप से तथा प्रतीकरूप से। ओम् शब्द का वाच्य ब्रह्म है तथा ओम् शब्द भो ब्रह्म है जैसा कि श्रुति बतला रही है—'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः।

वहाँ अभिधानपक्ष के अनुसार 'द्वे ब्रह्मणी' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या ऊपर कर दी गई है। प्रतीक पक्ष में इस मंत्र का अर्थ निम्नलिखित है:—

परा तथा अपरा ये दो विद्या हैं। परब्रह्म ही परा विद्या तथा शब्दब्रह्म ही अपरा विद्या है। दोनों विद्याओं में अत्यधिक साम्य है। अतः शब्दसृष्टि-ज्ञान से उसकी समानता के कारण अर्थसृष्टिज्ञान सिद्ध हो जाता है, ऐसा विद्वान् मानते हैं। जिस प्रकार पर विद्या में अव्यय, अक्षर, क्षर भेद से तीन प्रकार का प्राणब्रह्म है। उसी प्रकार अपर विद्या में भी स्फोट, अक्षर, वर्ण भेद से तीन प्रकार का वाग्ब्रह्म है। अपरविद्या में वर्णों, अक्षरों, पदों, समस्त-पदों, वाक्यों व महावाक्यों में एकत्वबुद्धि का कारण स्फोटरूप अव्यय है। जिस प्रकार परविद्या में क्षर, अक्षर आदि का आलम्बन अव्यय पुरुष है, उसी

स्फोटरूप अव्यय में नित्य सम्बद्ध पाँच स्वरात्मक वर्ण अ, इ, उ, ऋ, ऌ, अक्षर कहलाते हैं। इन्हीं पाँच अक्षरों से क्षरात्मक सारे व्यंजनवर्ण उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार अक्षरों से उपगृहीत क्षर, अक्षरों के आलम्बन अव्यय में प्रतिष्ठित रहते हैं, उसी प्रकार स्वररूप अक्षरों से उपगृहीत व्यंजनरूप क्षर अक्षरालम्बन स्फोटरूप अव्यय में प्रतिष्ठित रहते हैं। परन्तु क्षरात्मक व्यंजन अक्षरात्मक स्वर के आश्रित रहते हैं और अक्षरात्मक स्वरसमूह अव्ययात्मक स्फोट में सम्बद्ध होता हुआ अपना स्वरूप धारण करता है। ये व्यंजन, स्वर और स्फोट तीनों एकीभूत एक वाक्तत्व है।

वाक्य का स्वरूप पदों से, पदों का अक्षरों से तथा अक्षरों का वर्णों से निष्पन्न होता है। अतः वाक्य, पद व अक्षर सभी का स्वरूप वर्णों से ही बनता है। अक्षर वर्णों का आत्मा है, अतः वर्णों से भिन्न है। अर्थात् वर्ण तथा अक्षर एक नहीं, भिन्न हैं। इसीलिये कात्यायन ने 'स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा' इस पद्य में वर्ण तथा अक्षर दोनों का प्रयोग कर वर्ण और अक्षर का भेद बतलाया है। जो वर्णसमाम्नाय अक्षरसमाम्नाय है, इस रूप से वर्ण और अक्षर में कहीं कहीं अभेदव्यवहार भी किया गया है वह भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि आठ प्रकार से वर्णों एवं अक्षरों में भेद सिद्ध है। जैसे—

(१) वर्ण क्षरपुरुष हैं और अक्षर अक्षर पुरुष हैं, इस प्रकार दोनों में पुरुषभेद है।

(२) वर्ण ६४ हैं, और अक्षर लघु, गुरु भेद से दो प्रकार का है, यह संख्याभेद है।

(३) वर्ण एकविन्द्वात्मक है और अक्षर नवविन्द्वात्मक है, यह योनिभेद है।

(४) वर्ण निर्व्यापार है और पञ्चम विन्दुस्थ अक्षर यदि निर्व्यापार है अथवा उसमें पृष्ठतः व्यापार है, तो लघु होता है और पुरतो व्यापार होता है, तो गुरु होता है। जैसे— अ या प्र लघु हैं किन्तु आ या अत् गुरु हैं, यह व्यापारभेद है।

(५) वर्ण अन्न हैं और अक्षर अन्नाद हैं, यह वीर्यभेद है।

(६) वर्ण अक्षरप्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित हैं और स्वतः अप्रतिष्ठित हैं, किन्तु अक्षर स्वतः प्रतिष्ठित हैं, यह प्रतिष्ठाभेद है।

(७) वर्ण अक्षर के अंग हैं और अक्षर वर्णों का अगी है, यह अंगांगिभेद है।

(८) 'ओम्' में वर्ण तीन हैं—अ, उ, म, किन्तु ओम् [1]अक्षर एक है, यह प्रतिपत्ति (ज्ञान) भेद है। इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भ से दो बातें सिद्ध होती हैं— (१) वर्णों से अक्षर भिन्न हैं। (२ तथा अर्थ और शब्द दोनों ही तीन प्रकार के हैं, इस समानता के कारण परब्रह्मविद्या व शब्दब्रह्मविद्या में अत्यन्त सादृश्य है।

अक्षरों की गुरुत्व तथा लघुत्व की उपपत्ति के लिए वर्णों के अंगाङ्गिभाव की व्याख्या की जा रही है। 'बृहत्याः (वाचः) पतिः बृहस्पतिः' इत्यादि निर्वचन से वाक् का बृहतीत्व सिद्ध होता है। यह बृहती वाक् ऐन्द्र (इन्द्र सम्बन्धी) छन्द है। ऐतरेयारण्यकश्रुति में बृहतीसहस्र को इन्द्र का प्रिय धाम बतलाया है। इसलिये ऐन्द्री वाक् बृहती कहलाता है। बृहती यह नौ भक्ति (भाग) वाले छन्द की संज्ञा है। ऐन्द्री वाक् को बृहती बतलाते हुए आचार्यों का ऐन्द्री वाक् नवभक्तिक (नौ भाग वाली) है, यह तात्पर्य है। अतः यह सिद्ध है कि ऐन्द्री वाक् का नौ बिन्दुएँ व्याप्तिस्थान हैं। नौ बिन्दु तक यह अक्षरस्फोट है। अर्थात् नौ बिन्दुओं तक अक्षरस्फोट की व्याप्ति है।

उच्चार्यमाण व्यंजन जितने प्रदेश को व्याप्त करते हैं वह अर्धमात्राकाल है। उसी अर्धमात्राकाल का उपलक्षण (बोधक) एक बिन्दु है। यद्यपि स्वर को अक्षर कहते हैं और स्वर दो बिन्दुओं को विषय बनाता है न कि नौ बिन्दुओं को। क्योंकि स्वर एकमात्रिक होता है और एक मात्रा दो अर्धमात्रिक बिन्दुओं से बनती है तथापि नव बिन्दु तक अक्षर की व्याप्ति होती है, यह नवबिन्दुक का तात्पर्य है न कि नौ बिन्दुओं से स्वररूप अक्षर का स्वरूप बनता है। अर्थात् नवबिंद्वात्मक प्रदेश तक के व्यंजनों को स्वर रूप अक्षर आत्मसात् करने में समर्थ है। व्यंजनसहित स्वर भी अक्षर कहलाता है और सव्यंजन स्वर का नवबिन्दुक स्फोट आयतन होता है। यही स्फोट अव्यय है।

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म भी अक्षर उक्थ, अर्क, अशिति भेद से तीन भागों से युक्त है। उन तीन भागों में बिन्दुद्वयात्मक स्वर

१ 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गीता ८० ८)

शब्दब्रह्म का उक्थ या आत्मा है। सात विन्दुएँ इसका अर्कस्थान है। उक्थरूप आत्मा से उत्पन्न प्राण अर्क कहलाते हैं। वे अर्क क्रान्तिमण्डल रूप अपनी महिमा में अशिति (अन्न) को प्राप्त करने के लिए आक्रमण (गमन) करते हुए क्षररूप व्यंजन को आत्मसात् कर लेते हैं, उसे अपने स्वरूप में समाविष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार यह उक्थ रूप आत्मा अपने क्रान्तिमण्डलरूप महिमा स्थान में अर्क द्वारा गृहीत व्यंजनों को अपने स्वरूप में समाविष्ट कर लेता है। अतः केवल स्वर के अक्षर होने पर भी ६ बिन्दु तक वर्तमान क्षररूप व्यंजन स्वररूप अक्षर की सत्ता से ही सत्तावान् होते हैं। अतः इन व्यंजनों से युक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'अ' यह एक अक्षर है। इसी प्रकार य, स्य, त्र्य, स्त्र्य भी एक-एक अक्षर ही हैं। वे अक्षर उपसर्ग (पूर्व में विद्यमान) व्यंजन के (एक-दो-तीन-चार-भेद से) न्यूनाधिक होने पर भी आकार में समान स्थान को ही रोकते हैं। इसी प्रकार अ, अर्, अर्क्, अर्क्ट् ये चारों अक्षर भी स्वर से उत्तरवर्ती व्यंजनों के न्यूनाधिक होने पर भी छन्द (आकार) में समान स्थान को ही रोकते हैं। अतः ये एक अक्षर कहलाते हैं। इसीलिए जहाँ व्यंजन नहीं है, वहाँ शुद्ध स्वर ही अक्षर है। और स्वर के पूर्व या पश्चात् व्यंजनों के होने पर व्यंजनविशिष्ट स्वर ही अक्षर कहलाता है। इसीलिये कात्यायन ने कहा है। 'स्वरोऽक्षरं सहाद्यैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चावसितैः'। इति।

स्वर दो प्रकार का होता है—अपृक्त तथा व्यंजनसंपृक्त। जैसे—'अहम्' में प्रथम अकार व्यंजन से असंपृक्त है। उसको हम वर्ण व अक्षर दोनों कह सकते हैं। क्योंकि अकार वर्ण भी है और 'स्वरोऽक्षरम्' इस सिद्धांत से अकार स्वरवर्ग होने से अक्षर भी है। हकारोत्तरवर्ती अकार पूर्व में हकार व्यंजन से तथा पश्चात् (उत्तर में) मकार व्यंजन से सम्पृक्त है। अतः यहाँ व्यंजनविशिष्ट स्वर है, न कि केवल, स्वर। यहाँ व्यंजनविशिष्ट स्वर का व्यंजनोपहित दृष्टि से विचार करें तो अकार भी वर्ण ही है अक्षर नहीं, क्योंकि उपाधि का उपहित में अन्वय नहीं होता। अतः उस दृष्टि से विचार करने पर व्यंजनों का अकार में अन्वय न होने से अकार वर्ण ही है। और यदि विशिष्ट मान कर विशिष्ट दृष्टि से विचार किया जाय तो विशेषणों का विशिष्ट में अन्वय होने से अकार, पूर्व में हकार तथा उत्तर में मकार व्यंजन से युक्त होने के कारण 'सहाद्यैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चावसितैः' इस कात्यायनवचन के अनुसार अक्षर है। इसीलिये 'वागित्येकमक्षरम्', अक्षरमिति त्र्यक्षरम्' यह ऐतरेयारण्यक श्रुति

'वाग्' को एक अक्षर तथा अक्षर को त्र्यक्षर (तीन अक्षरों का समुदाय) बतला रही है। क्योंकि वाग्' में व्, आ, ग् इन तीन वर्णों के होने पर भी आद्यन्त व्यंजनों से विशिष्ट अकारस्वर एक अक्षर ही है तथा 'अक्षर' शब्द में 'अ' यह एक अक्षर व्यंजन से असंपृक्त होने के कारण 'स्वरोऽक्षरम्' इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षर है। तथा 'क्ष' व 'र' ये दो व्यंजनसंपृक्त स्वर होने से 'सहाद्यैर्व्यंजनैरुत्तरैश्चावसितैः' इस वचन के अनुसार अक्षर हैं, मिलकर तीन अक्षर हैं, अतः 'अक्षर' शब्द को तीन अक्षरों का समुदाय बतलाया गया है। कितने व्यंजनों से युक्त स्वर एक अक्षर कहला सकता है, इस जिज्ञासा में यही उत्तर है कि आदि में (पूर्व में) चार व्यंजनों से तथा उत्तर में तीन व्यंजनों से विशिष्ट स्वर एक अक्षर कहला सकता है। अर्थात् एक स्वर आदि में चार व्यंजनों को तथा उत्तर में तीन व्यंजनों को व्याप्त कर सकता है। यही उसका क्रान्तिमण्डलरूप महिमास्थान है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार एक स्वर-रूप आत्मा अपने अर्करूप प्राणों से आदि में चार तथा अन्त में तीन व्यंजनों को अशिति (अन्न) रूप में आधान कर आत्मसात् करके अपने अंग बना सकता है। अतः इतने व्यंजन उसके अंग हैं तथा बिन्दुद्वयात्मक स्वर उन व्यंजनरूप अंगों का आत्मा है। इसलिये जैसे पृथिवी सूर्य का अंग है उसी प्रकार पार्थिव वाग्रूप व्यंजन ऐन्द्रवागरूप स्वर के अंग हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जहाँ ६ बिन्द्वात्मक प्रदेश में दूसरे स्वर का अभाव है, वहाँ तो 'सहाद्यैः' इत्यादि कात्यायन-वचन के अनुसार पूर्व में चार तथा उत्तर में तीन व्यंजनों से युक्त स्वर अक्षर है, यह ज्ञान निर्विवाद तथा असन्दिग्धरूप से हो जाता है किन्तु जहाँ नवबिन्द्वात्मक परिधि में दूसरा स्वर भी आ गया है वहाँ उसके पास के व्यंजनों को कौनसे स्वर का अंग माना जाय अर्थात् स्वरद्वयमध्यवर्ती व्यंजनों को पूर्वस्वर का अंग माना जाय या परस्वर का। जैसे—'अपक्वस्त्यानम्' इस पञ्चाक्षर पद में शुद्ध अकार, पकार-युक्त अकार, ककार व वकार से युक्त अकार, सकार, तकार तथा यकार से युक्त आकार एवं पूर्व में नकार तथा उत्तर में मकार से युक्त अकार इस प्रकार पाँच अक्षर हैं। वहाँ पर पकार, ककार, सकार, तकार एवं नकार अपने पूर्ववर्ती स्वर के अंग क्यों नहीं हैं, उत्तरवर्ती स्वर के ही क्यों?

इसका समाधान यही है कि स्वर के पुरस्तः (आदि में) तथा पुरतः (उत्तर में) बल में न्यूनाधिकतारतम्य होता है। दो स्वरों के होने पर पूर्ववर्ती

तथा परवर्ती स्वरों में बाध्यबाधकभाव होने से एक स्वर में बल का नाश होने से उस स्वर (बाधित स्वर) का व्यंजनविशेष में संक्रमण रुक जाता है। जैसे—'कुल' शब्द में लकार व्यंजन परस्वर का अङ्ग है अतः पूर्व स्वर का अङ्ग नहीं होता। क्योंकि यहां पर अधिक बल वाले, परस्वर के बल से अल्प बल वाले पूर्व स्वर के बल का बाध हो गया है। बलों का यह तारतम्य दो स्वरों का संनिकर्ष होने पर ही होता है। क्योंकि नवबिन्द्वात्मक आयतन में स्वर की स्थिति पञ्चम व षष्ठ विन्दु पर आधारित है। उसमें पूर्व में पञ्चम-विन्दु-सहित पाँच पाद बल हैं तथा उत्तर में षष्ठ-बिन्दु-सहित चार पाद बल हैं। नवबिन्द्वात्मक नौ पादबलों से युक्त यह स्वर पूर्व तथा परबिन्दुस्थ व्यंजनों पर व्याप्त होता है। पञ्चमः-षष्ठ-बिंद्वात्मक आयतन पर आश्रित स्वर पूर्व में चार विन्दुओं को तथा उत्तर में तीन बिन्दुओं को व्याप्त करता है या उन विन्दुओं पर क्रमण करता है। किन्तु पञ्चमषष्ठबिन्दुरूपी उक्थ का यह आक्रमण-बल पूर्व में आदि की चार बिन्दुओं पर तथा पश्चात् सप्तमादि तीन विन्दुओं पर पादशः एक-एक (पाद) कम होता जाता है।

जैसे—हरि शब्द में रेफ में पूर्व तथा पर दोनों स्वरों की अङ्गता प्राप्त है, किन्तु पूर्व स्वर का उत्तरतः बल तीन पाद है और उत्तर स्वर का पृष्ठतः बल चार पाद है। अतः उत्तर स्वर का बल अधिक होने से रेफ पूर्व स्वर का अङ्ग न होकर उत्तरस्वर का अङ्ग होता है।

'कात्स्न्र्यम्' शब्द में तकार में पूर्व स्वर का बल दो पाद है तथा उत्तर पाद का बल एक पाद है। अतः न्यून बल वाले उत्तर स्वर के बल का अधिक बल वाले पूर्व स्वर के बल से बाध हो जाने के कारण तकार पूर्व स्वर का अङ्ग माना जाता है न कि उत्तर स्वर का। यहीं पर सकार में पूर्व स्वर का बल एक पाद है और उत्तर स्वर का बल दो पाद है। अतः सकार पूर्वस्वर का अंग न होकर परस्वर का अंग होता है। 'ऊर्क् स्त्यङ्गे' उदाहरण में ककार में पूर्वस्वर का बल दो पाद है और परस्वर का सर्वथा नहीं, अतः वह पूर्व स्वर का अग माना जाता है।

इस प्रकार स्वरों में परस्पर बलवैषम्य होने पर जिस व्यंजन पर जिस स्वर का बल अधिक होता है, वह व्यंजन उसी स्वर का अंग होता है। यही निष्कर्ष भगवान् कात्यायन का है—'संयोगादिः पूर्वस्य। यमश्च। क्रमजं च।

तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे। अवसितं चेति'। अर्थात् संयोग का आदि व्यंजन पूर्व स्वर का अङ्ग होता है। इसी प्रकार यम तथा क्रमज व्यंजन भी पूर्व स्वर के अङ्ग होते हैं।

तर्कः, गुल्मः, हव्यम्, रुक्मम्, पत्नी सत्यम्, इत्यादि उदाहरणों में दो स्वरों के मध्यवर्ती व्यंजनों में प्रथम व्यंजन पूर्व स्वर का तथा दूसरा व्यंजन पर स्वर का अंग है।

अन्तस्थ (य, र, ल, व) तथा श, प, स, ह से भिन्न संयुक्त तथा अवसित (पदान्त) व्यंजनों का उच्चारण दो प्रकार से होता है—सहजतया तथा बलप्रयोगपूर्वक। जिस रूप से वर्णों का प्रारंभ किया जाता है उसी रूप से समाप्ति भी करनी चाहिए, इस नियम से उच्चारण करने वाले पुरुषों का पद के मध्य में विशेष बल का प्रयोग नहीं होता, इस प्रकार का उच्चारण अञ्जसा उच्चारण कहलाता है। जैसे 'सत्य' शब्द में स्पर्शवर्ण तकार का, तर्क, गुल्म आदि उदाहरणों में अन्तस्थ वर्ण रेफ व लकार की तरह, मृदुग्रह है। ऐसे स्थलों में तकार-वर्ण पूर्व स्वर का अंग होता है किन्तु विक्रम्य उच्चारण करने में तकार स्पर्श में बलविशेष का उदय होने से पूर्व स्वर की विक्रान्ति होती है। इस विक्रम के कारण 'सत्य' शब्द में स्पर्श वर्ण के उच्चारण के बाद विच्छेद होकर पुनः उत्तर वर्ण के उच्चारण के लिए प्रयत्नलाभ होता है। ऐसी स्थिति में 'संयोगविभागशब्देभ्यः शब्दः' इस वैशेषिक सूत्र के अनुसार संयोगज स्पर्श के बाद विभागज स्पर्श की और उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तकार वर्ण का दो बार उच्चारण होता है। इन दोनों वर्णों में संयोगादि वर्ण तकार के द्वित्व से उत्पन्न क्रमज पूर्व तकार वर्ण पूर्व स्वर का अंग होता है तथा द्वितीय तकार वर्ण जो कि विभागज शब्द है, पर स्वर का अङ्ग होता है। 'रुक्क्म' शब्द में क तथा तत्समान यमवर्ण द्वितीय ककार पूर्व स्वर के अंग हैं तथा मकार परस्वर का अंग है।

रेफ और हकार के संयोगादि वर्ण होने पर जहाँ उनसे परे विद्यमान स्पर्श वर्ण को द्वित्व होता है, वहाँ 'पाश्श्व्र्यम्' आदि शब्दों में रेफ तथा क्रमज पूर्व शकार पूर्व स्वर के अंग हैं एवं श, व, य—ये परस्वर के अंग होते हैं। 'वार्ष्ष्याय' शब्द में रेफ से परे प्रथम षकार पूर्व स्वर का तथा ष और य पर

स्वर के अंग हैं। 'बाह्‌ह्वोः' में हकार से परे विद्यमान पूर्व 'व' पूर्व स्वर का तथा द्वितीय वकार पर स्वर का अंग है। क्रमज वर्ण से उत्तर विद्यमान व्यंजन से परे यदि स्पर्श वर्ण हो, तो पूर्व स्वर का अंग होता है। 'पार्ष्ण्यां' इस उदाहरण में र, ष, ष पूर्व स्वर के अंग हैं। यहाँ क्रमज के उत्तर विद्यमान द्वितीय 'ष' भी पूर्व स्वर का अंग है क्योंकि उससे परे स्पर्श वर्ण 'ण' विद्यमान है। इसी प्रकार 'वर्ष्ष्मन्' में र, ष, ष पूर्व स्वर के तथा मकार पर स्वर का अंग है।

'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' 'नश्च' 'शि तुक्, इन पाणिनीय सूत्रों के द्वारा विधीयमान क, ट, ध और त पूर्व स्पर्श ङकार, णकार तथा नकार के द्विरुक्त रूप ही हैं। क्योंकि ह्रस्व स्वर से परे विद्यमान ङ, ण, न को जैसे स्वर परे होने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' इत्यादि में द्विरुक्ति होती है, उसी प्रकार स्वर-भक्ति-युक्त शकारादि उष्म वर्णों के परे होने पर भी उच्चारण-सम्प्रदाय-क्रम के अनुरोध से किसी भी स्वर से परे विद्यमान ङकारादि को द्वित्व हो जाता है। किन्तु उष्म वर्ण नासिक्य के विरोधी हैं अतः द्विरुक्ति होने पर उष्म वर्णों के संनिकृष्ट ङकारादि से नासिक्य का अपहरण होकर उनमें केवल स्पर्शमात्रता शेष रह जाने से वे ङकारादि ककारादि में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः प्राङ्क् षष्ठः, सुगण्ट् षष्ठः, सन्त्सः सञ्च्छम्भुः इत्यादि प्रयोगों की निष्पत्ति होती है। इन सब उदाहरणों में द्वित्वसिद्ध ककारादि वर्ण पूर्व स्वर के अङ्ग हैं।

'कार्त्स्न्यम्' शब्द में दो अकारों के बीच वर्तमान अ, र, त, स, न, य ये ६ वर्ण हैं। इनमें अ, र, त ये तीन पूर्व अक्षर के तथा स, न, य ये पर अक्षर के अंग हैं। यहाँ पर तकार पर पृष्ठतोबल द्वारा पर अक्षर का तथा सकार पर पुरतोबल द्वारा पूर्व अक्षर का आक्रमण होने पर भी, विरोध होने पर मूल बल से सिद्धि मानी जाती है; इस न्याय से मूल कृत्स्न शब्द में त पूर्व स्वर का अंग होता है और सकार परस्वर का। अतः कृत्स्न शब्द से निष्पन्न कार्त्स्न्य शब्द में भी तकार पूर्व स्वर का तथा सकार परस्वर का ही अंग माना जाता है। 'तक्म्यम्' शब्द में क, म, य, पर पूर्व स्वर का तथा य, म, क, पर परस्वर का बल प्रयोग होने के कारण विरोध होने से और विरोध में सामीप्याधिक्य के कारण ककार पूर्व स्वर का तथा यकार पर स्वर का अंग होता है। मकार पर दोनों का समान अधिकार प्राप्त होने पर भी पृष्ठतोबल पुरतोबल का अतिक्रमण कर

लेता है, इस न्याय के अनुसार मकार परस्वर का अंग होता है, क्योंकि मकार में पुरतोबल के कारण पूर्व स्वर की तथा पृष्ठतो बल के कारण पर स्वर की अंगता प्राप्त है। वैदिकों के सिद्धान्तों में तो पूर्व स्वर के बल से अवष्टब्ध ककार पर भी परस्वर के बल की प्रसक्ति होने से दो विरुद्ध बलों के द्वारा आकृष्यमाण दो 'क' वर्णों की निष्पत्ति होकर 'तक्क्म्यम्' ऐसा बनता है। यहाँ उत्तर ककार पर 'म' के प्रयत्न का आक्रमण होने से वह नासिक्य माना जाता है, अतः पर ककार यम कहलाता है। 'विश्वप्स्न्या' इस उदाहरण में पकार पूर्वाङ्ग है, सकार पराङ्ग है। 'विष्वक् पाशः' मे ककार पर पूर्व स्वर तथा पर स्वर के बल का समान आक्रमण होने पर भी पदान्त यति से विच्छेद के कारण ककार पूर्व स्वर का ही अंग है न कि पर स्वर का। इस प्रकार अनेक स्वरों के होने पर उनमें उपर्युक्त रीति से बाध्यबाधकभाव होता है।

यह पहिले बतला दिया है कि व्यंजनों से सर्वथा असंस्पृष्ट स्वर तथा व्यंजनों के होने पर व्यंजनसंपृक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'स्त्र्यर्क्ट्' शब्द स, त, र, य, अ, र, क, ट इन आठ वर्णों से युक्त, अकार को छोड़ कर शेष सात व्यंजनों से युक्त तथा अकार स्वर में स्वर की दो बिन्दु (मात्रा) एवं सात व्यंजनों की सात बिन्दु (मात्रा) इस प्रकार मिलकर ९ बिन्दुओं से युक्त एक अक्षर है। यहाँ अकार वर्णमात्र है अक्षर नहीं। क्योंकि व्यंजनों के होने पर व्यंजनसहित ही स्वर अक्षर कहलाता है असंपृक्त नहीं। इस प्रकार सात व्यंजन तथा अकार स्वर ये आठों वर्ण अकाररूप एक अक्षर के अंग हैं। क्योंकि इन सबका उच्चारण अकार अक्षर के अधीन ही है। यह अकार अक्षर सात व्यंजनों से अधिक व्यंजनों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। वह पृष्ठतः ४ तथा पुरतः ३ व्यंजनों को ग्रहण कर सकता है, अधिक नहीं। पृष्ठतः पाँचवाँ व्यंजन तथा पुरतः चौथे व्यंजन का यदि उच्चारण किया जाय तो अगत्या कोई दूसरा स्वर वहाँ आयेगा। क्योंकि पूर्व स्वर की उन व्यंजनों के उच्चारण में सामर्थ्य नहीं है। जैसे 'न स्त्र्यर्क्ट्प' इस उदाहरण में नकार व टकार में हठात् दूसरा स्वर आ जाता है।

अक्षर में देवानुध्यान—

निरवयव मन में नौ प्राण-खण्डों का समावेश है। वे नौ खण्ड प्राणमय कोश हैं। उन प्राणात्मक नौ बिन्दुओं में पञ्चम बिन्दु केन्द्ररूप होने से आत्मा

कहलाती है। अन्य ८ विन्दुएँ उसके अंग हैं। पञ्चम विन्दु पर स्थित स्वर अक्षर कहलाता है। वही स्वर ऐन्द्रवायव ग्रह है और वाक् का आत्मा है। यह पञ्चम बिन्दुस्थ स्वररूप प्राण वाङ्मय होने से इन्द्र कहलाता है। यही इन्द्र-प्राण सरस्वती का अधिष्ठाता सरस्वान् है। जैसा कि बृहद्देवता में कहा है—

सरांसि घृतवन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यत् त्रिपु।
सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाचमाहुः सरस्वतीम् ॥

यद्यपि यह वाक् पार्थिव होने से आग्नेयी मानी जाती है। जैसा कि 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इस शतपथ-श्रुति में बतलाया गया है, तथापि यह पार्थिव वाक् इन्द्र प्राण द्वारा अधिष्ठित होने से उस इन्द्रप्राण के साथ वाक् का एकीभाव हो जाता है अतः इसे ऐन्द्री कहा जाता है यह पार्थिव वागधिष्ठाता इन्द्र प्राण आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य भेद से दो प्रकार का है। इनमें दिव्येन्द्र प्राण ही प्रज्ञाप्राण कहलाता है। यही दिव्येन्द्ररूपी प्रज्ञाप्राण वितायमान (प्रस्रियमाण) ध्वनिरूप वाक् में स्वर-व्यंजन-विभाग करता है और आन्त-रीक्ष्य इन्द्रप्राण वायु से युक्त रहता है। इन्द्रतुरीय (इन्द्र जिसमें चौथा भाग है) वायु ऐन्द्रवायव ग्रह बनता हुआ आग्नेयी ध्वनिरूप वाक् को अधिष्ठित करता है। क्योंकि अग्नि गायत्र है। इस वाक् का गायत्र अग्नि देवता है। अतः इस वाक् को गायत्री कहते हैं। गायत्री अष्टावयव है। इसलिए एक स्वर से अनुगत सातों व्यंजन स्वरसहित एक अक्षररूप वाक् है। इस वाक् का उक्थांश (आत्मांश) स्वर नौ विन्दुओं में से पञ्चम व षष्ठ विन्दु पर अधिष्ठित होता है। किन्तु प्राणरूप इन्द्रांश बृहतीरूप नौ विन्दुओं को व्याप्त करता है। इसीलिये श्रुति में कहा है—'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्' 'यत्र ह क्व च ब्रह्म तद्वाक्, यत्र वा वाक् तद्वा ब्रह्म' (ऐ० आ०) अर्थात् जहाँ तक ब्रह्म है वहाँ तक वाक् व्याप्त है, इन्द्र ही वाक्तत्त्वों का ब्रह्म कहलाता है क्योंकि इन्द्र आत्मा व ब्रह्म समानार्थक शब्द हैं। जिस प्रकार शारीर आत्मा सारे शरीर को व्याप्त कर रहता है उसी प्रकार वागात्मा इन्द्र नौ विन्दुओं को व्याप्त कर रहता है। यह नवविन्द्वात्मक वाक्तत्त्व ही वाङ्मय इन्द्रप्राण का शरीर है। इन्द्र-प्राण के शरीरभूत वाग् में जितने व्यंजन प्रविष्ट हैं उतनी वाक् उस इन्द्र से परिमित होती है। इस प्रकार आठ वर्णों तथा नव विन्दुओं से परिमित यह एकाक्षर वाक् निष्पन्न होती है। इसी रहस्य का उद्घाटन कुरुसुति काण्व ने निम्न ऋङ्मंत्र में किया है:—

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ।
इन्द्रात् परितन्वं ममे । ऋ० सं० ८।७६।१२

इसी मंत्र की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक में निम्न प्रकार से की है :— बृहतीरूप इन्द्रप्राण ३६ अक्षरात्मक है। इस इन्द्रप्राण ने आठ पदोंवाली तथा नव बिन्दुवाली वाक् को परिमित किया। इस वाक् में चार अक्षरोंवाले आठ पाद होते हैं, इस प्रकार वाक् में ३२ अक्षर हो जाते हैं, अतः ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् ही अष्टापदी वाक् है। एक चतुरक्षरात्मक पद और मिलाने पर वही अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् नवपदी बृहती बन जाती है। इसीलिये इस अष्टापदी वाक् को नवस्रक्ति कहा गया है। स्रक्ति-शब्द का अर्थ कोण है। इस प्रकार यह अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् ऋतरूप बृहती प्राण का स्पर्श करती है, उससे अभिन्न हो जाती है। ३६ अक्षरात्मक बृहती में ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् वाक् का अन्तर्भाव हो जाता है। यही वाक् (अनुष्टुप्) का प्राणरूप बृहती के साथ एकीभाव है। 'ऋतस्पृशम्' शब्द का 'अनुष्टुप् वाक् बृहती से स्पृष्ट है' ऐसा अर्थ सायण ने किया है। और ऐतरेय श्रुति में 'सत्यवाक् ऋत वाक् से स्पृष्ट है' यह अर्थ किया है श्रोत्र द्वारा ग्राह्य शब्द ही सहृदय होने से 'सहृदयं सत्यम्' इस परिभाषा के अनुसार सत्यवाक् है। वह हृदयरहित ऋतवाक् से नित्य स्पृष्ट होती है। हृदय का अर्थ यहाँ केन्द्र है।

यहाँ यह रहस्य है कि ऋतु व सत्य नामक दो नेत्र होते हैं। नेत्र का अर्थ सूत्र है। अतः ऋत व सत्य नामक दो सूत्र होते हैं। हृदयतोग्राही अर्थात् केन्द्र से ग्रहण करने वाला सूत्र सत्य कहलाता है तथा सर्वतोग्राही नेत्र (सूत्र) ऋत कहलाता है। अतः अशरीर तथा अहृदय (शरीररहित तथा हृदय-रहित) सभी पदार्थ ऋत नेत्र द्वारा गृहीत होने से ऋत कहलाते हैं और सहृदय व सशरीर सभी पदार्थ 'सत्य-नेत्र द्वारा गृहीत होने से सत्य कहलाते हैं। अप्, वायु तथा सोम अशरीर होने से ऋत हैं। अग्नि, यम व आदित्य सशरीर होने से सत्य हैं। अप् शब्द से पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या नामक वाक् का ग्रहण है। जिसे ऊपर अष्टापदी गायत्री वाक् कहा गया है। यह वाक् अपनी योनि (कारण)रूप ऋत वाक् से सम्बद्ध होती हुई ही स्वरूप धारण करती है। ऋत वाक् ही उसका प्रभव तथा प्रतिष्ठा है। वह अष्टापदी गायत्री वाक् अन्त में ऋतरूप पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या वाक् में ही लीन

होती है। इसीलिये इसे ऋतस्पृक् कहा गया है। वह ऋत वाक् अप्रूप है। जैसा कि शतपथ-श्रुति में कहा है—

सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत् यदिदं किञ्च, तस्मादापः। अर्थात् प्रजापति ने वाक् से अप्तत्त्व को उत्पन्न किया। इस प्रकार वाक् ही उसके द्वारा उत्पन्न की गई। उसने इन सबको व्याप्त किया। अतः 'आपः' नाम से व्यपदिष्ट हुई (शत० ६।१।१।६)। यह वाक् ऋत है। इसमें जो प्राण है, वह सत्य है। जैसा कि 'आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। (शत० १४।६ प्र०।६ ब्रा०) इस श्रुति में कहा है। अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व अप्तत्त्व ही था। उसने सत्य (सूर्य) को उत्पन्न किया।

इस प्राणरूप इन्द्र का अप् रूप वाक् में दो प्रकार से विनियोग होता है— सत्यरूप से तथा प्रज्ञारूप से। प्रज्ञारूप से वह वाक् में वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य इन विभागों को उत्पन्न करता है। यह प्रज्ञाप्राण मानुषी वाक् में ही रहता है न कि अव्याकृत वायु, तेज, जल व पृथिवी की वाक् में, और सत्यप्राण सभी प्रकार की वाक् में रहता है। सत्यप्राण से रहित अप्-रूप वाक् की स्थिति ही नहीं होती। इस ऋतरूपी (अप्रूपी) वाक् का समुद्र ही सरस्वान् कहलाता है। यही शरीररहित व्यापक वाक् है। यही व्यापक ऋतवाक् सत्य-प्राण के सम्बन्ध से सत्यप्राणावच्छिन्न सशरीर बनकर सरस्वती कहलाती है। अपरिच्छिन्न होने से सरस्वान् ऋत है। सत्यप्राण से परिच्छिन्न होने के कारण सरस्वती सत्य है। यह सत्यप्राण ही प्रज्ञाप्राण से विभाजित होकर अक्षर बनता है। यही अक्षर वाक् का आत्मा है, यही स्वर है, यही अङ्गी है। व्यंजन जो कि क्षर हैं, इस अक्षर के अङ्ग हैं। वे व्यंजन इस आत्मरूप अक्षर को एक विन्दु से बढाते हैं। अर्थात् व्यंजनों की अपेक्षा स्वर में एक विन्दु अधिक होती है। व्यंजन एक बिन्दु पर स्थित रहता है किन्तु स्वररूप अक्षर बिन्दुद्वयात्मक प्रदेश को व्याप्त करता है। एक विन्दु अर्धमात्रा-रूप होता है। अतः एक-विन्द्वात्मक प्रदेश में व्याप्त व्यंजन अर्धमात्रिक तथा विन्दुद्वयात्मक प्रदेश में व्याप्त स्वर एकमात्रिक कहलाता है। वीर्याधिक्य के कारण मध्यवर्ती एक आत्मा अन्य प्राणों का आत्मा या अङ्गी बनकर अन्य सब प्राणों को व्याप्त करता है।

इसका निरूपण शतपथ के षष्ठ[1] काण्ड में किया गया है। इसी प्रकार साध-मात्रिक व्यंजनों का यह एकमात्रिक स्वर मात्राधिक्य के कारण आत्मा होता है। आत्मा होने से ही यह स्वर उन व्यंजनों पर प्रभुत्व रखता है, सब व्यंजनों को अपने अधीन रखता है। इस एकमात्रिक आत्मबिन्दु के पृष्ठभाग में उपसर्ग-स्थानीय चार अर्धमात्रिक बिन्दु तथा आगे की तरफ उपधानस्थानीय तीन अर्ध-मात्रिक बिन्दु, इस प्रकार ७ बिन्दुओं को यह स्वर अपने अधिकार में रखता है। सात अर्धमात्रिक व्यंजन बिन्दु तथा एकमात्रिक स्वरबिन्दु मिलकर आठ होते हैं। इसी अभिप्राय से वाक् को 'ब्रह्म वै गायत्री अनुष्टुप्' इस ऐतरेयारण्यकश्रुति द्वारा अनुष्टुप् (अष्टसंख्याक्षरा) कहा गया है।

'वाग् अनुष्टुप्' इस प्रकार से वाक् को अनुष्टुप् बतलाते हुए वैदिक महर्षि अक्षर को उपर्युक्त रीति से अष्टबिन्द्वात्मक मानते हैं। नौ व्यंजनों के संनिवेश में जितना स्थान लगता है उतना ही स्थान एक स्वर तथा सात व्यंजनों के संनिवेश में लगता है अतः स्थानतुल्यता के कारण बृहतीप्राणावच्छिन्न अक्षर ही वागवच्छेद से अष्ट अंगों वाला हो सकता है। इसलिये अक्षरात्मक वाक् को अनुष्टुप् भी कह देते हैं। अथवा चतुरक्षरच्छंद में प्रत्येक अक्षर आठ अंगों वाला है, इस सिद्धांत से चार अक्षरों वाला छन्द ३२ अवयवों (अक्षरों) वाला बन जाता है। सभी छन्द चतुरक्षरात्मक होते हैं। २४ अक्षरों का गायत्री छन्द, २८ अक्षरों का उष्णिक् इस प्रकार २० अक्षरों वाली द्विपदा विराट् के ऊपर चार-चार अक्षरों की वृद्धि से क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती छन्द बनते हैं। अर्थात् प्रत्येक छन्द चतुरक्षरात्मक है, और चारों अक्षरों में प्रत्येक अक्षर अष्टावयव है। इस तरह प्रत्येक छन्द ३२ अक्षरात्मक होने से सभी वाक् अनुष्टुप् बन जाती है।

प्रत्येक अक्षर में ६ बिन्दुओं में केन्द्रस्थ पञ्चम व षष्ठ बिन्दु स्वर के स्थान हैं, अतः वे ही आत्मा हैं। अन्य सात बिन्दुएँ आत्मा का क्रान्तिस्थान होने से महिमा कहलाती है। पञ्चम व षष्ठ बिन्दु में स्थित स्वरस्वरूप के बोधक प्रज्ञा-प्राणरूप इन्द्र से सम्परिष्वक्त अक्षरस्वरूपनिरूपक प्रज्ञा प्राणरूप अन्य आन्तरीक्ष्य इन्द्र सात व्यंजन वर्णों तथा एक स्वर वर्ण को व्याप्त करता है।

---

१. 'सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा, त्रयः पक्षपुच्छानि, अथ यदेकेन पुरुषेणात्मानं वर्धयति तेन वीर्येणायमात्मा पक्षपुच्छान्युद्यच्छति। शत० ६।१।१।६।

इसीलिये बृहतीछन्दोरूप इस इन्द्र में अनुष्टुप्चारिता भी बन जाती है। इसीलिये मन्त्र में कहा है—

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनुचर्चूर्यमाणमिन्द्र निचिक्युः कवयो मनीषा॥

इस मन्त्र के अधिदैवत, अधिशब्द तथा अधिभूत भेद से तीन अर्थ हैं। वहाँ अधिशब्द-पक्षानुसारी इस मन्त्र की व्याख्या उपस्थित की जाती है।

बीभत्सूनां=निराश्रय रूप से स्थित रहने में असमर्थ अतएव पराश्रयत्व की अपेक्षा रखने वाले क्षर व्यंजनों के आश्रयप्रदान द्वारा सहयोगी अर्थ को हंस कहते हैं। स्वतन्त्रतया (परानपेक्ष रूप से) स्थित रहने में असमर्थ व्यंजनरूप क्षरों का आश्रय बन कर उन्हें जो अपने में बाँधता है, वह ऐन्द्रवायव ग्रह ही प्रकृत में हंस है।

'ये अर्वाङ् उत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसम्॥

इस मंत्र में वायु को हंस कहा गया है। 'प्राणो वायुः' इस श्रुति से वह हंस प्राणरूप है। अक्षरसंज्ञक प्राण ही क्षरसंज्ञक व्यंजनवर्णों को अपने में बाँधता है। 'अपां दिव्यानां' में अप् शब्द वाक् का बोधक है।' सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत् यदिदं किञ्च तस्मादापः' इस शतपथ श्रुति से यही सिद्ध हो रहा है। क्योंकि वाक्तत्त्व ही अप्-रूप में परिणत होता है। तृतीय द्युलोक में वर्तमान वाक् तत्वों के समानभाव में यह हंस विचरण करता है। अर्थात् उनके साथ रहता है। अर्थात् ऐन्द्रवायवग्रहरूप प्राण तथा वाक् दोनों एक रूप हैं।

अष्टवर्णात्मिका वाक् अनुष्टुप् कहलाती है। अनु शब्द की इत्थं-भूताख्यान अर्थ में 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः।' इस सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है तथा उसके योग में अनुष्टुप् शब्द में द्वितीया विभक्ति है। अनुष्टुप् शब्द सात व्यंजनों तथा उनके आत्मभूत स्वर के संनिवेशस्थानरूप नौ विन्दुओं का बोधक है। नौ बिन्दुओं को व्याप्त कर अपना स्वरूपनिर्माण करने वाले अक्षर शब्द से गृहीत इन्द्र प्राण को वैज्ञानिकों ने विचारदृष्टि से मालूम किया। यद्यपि श्रोत्रेन्द्रिय से वाक् का ही ज्ञान होता है न कि प्राण का, तथापि

अक्षररूपा वाक् अष्टवर्णों से अवच्छिन्न है और वे आठ वर्ण जितने प्रदेश में आते हैं, उतने प्रदेश को वाक् अवरुद्ध नहीं कर सकती। अतः वाक् के आलम्बन इन्द्र नामक प्राण को विद्वानों ने अपनी बुद्धि के द्वारा मालूम किया।

यह भूतसमूह वाङ्मय है अत: अधिभूत पक्ष में इस मन्त्र का अधिशब्द के समान ही अर्थ है। इसीलिये 'अक्षितं वसु बिभर्षि' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऐतरेयारण्यक श्रुति में कहा है—'सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः। तद्यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतान्या-पिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येव विद्यात् 'अर्थात् यह आकाश बृहती प्राण से विधारित है। जिस प्रकार यह आकाश बृहतीप्राण से विधारित है उसी प्रकार पिपीलिकापर्यन्त सभी भूत बृहती प्राण से ही विधारित हैं।' यह ऐतरेय श्रुति शब्दाक्षरों की तरह भूताक्षरों में भी बृहती-प्राणरूप इन्द्र की समान अभिव्याप्ति बतला रही है।

उपर्युक्त रीति से संभव होने पर स्वर का क्रान्तिमण्डल सात व्यंजनों तक होता है। किन्तु यह नियम नहीं है कि सात व्यंजनों से युक्त स्वर ही अक्षर हो। एक अक्षर में नौ अर्द्धमात्रारूप बिन्दुओं की व्याप्ति की स्वरूपयोग्यता होते हुए भी सर्वत्र नौ बिन्दुओं को व्याप्त ही करे यह नियम नहीं है। यदि व्यंजनों का सर्वथा अभाव हो तो केवल स्वर भी 'स्वरोऽक्षरम्' इस परिभाषा से अक्षर कहलाता है। किन्तु व्यंजनों के होने पर व्यंजनसहित स्वर ही अक्षर कहलाता है, व्यंजन-रहित नहीं। व्यंजनसहित होने पर भी कहीं एक व्यंजन से, कहीं दो से, कहीं तीन से, कहीं चार से, कहीं पाँच से, कहीं छः से, कहीं सात व्यंजनों से युक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'न' शब्द में नकाररूप एक व्यंजन से युक्त 'वाक्' में 'व' तथा 'क' इन दो व्यंजनों से युक्त तथा 'प्राक्' में प, र, क इन तीन व्यंजनों से युक्त स्वर अक्षर है।

यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि स्वरच्छायापन्न ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले अन्तस्थ (य, र, ल, व) तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले ऊष्मा (श, ष, स, ह) वर्णों से युक्त होने पर ही स्वरक्रान्ति-मण्डल सात व्यंजनों वाला होता है। अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों के अभाव में स्वर का आक्रमण-बल घट जाता है। इसलिए 'क्त्नट्प्' इस उदाहरण में स्वर पृष्ठतः क, त, न इन तीन व्यंजनों को

तथा पुरतः ट, प इन दो व्यंजनों को ही आक्रान्त करता है अधिक को नहीं। इस प्रकार वर्णविशेषों में स्वरक्रान्तिमण्डल में तारतम्य (न्यूनाधिकता) होता रहता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर स्थान कण्ठादि का तथा आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्टादि का एवं बाह्यस्थानों व बाह्यप्रयत्नों का बल में तारतम्य है। इसी कारण षत्व, णत्व, कुत्व, चुत्व आदि आभ्यन्तरस्थाननिबन्धन तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय आदि बाह्यस्थाननिबन्धन, व्याकरणशास्त्रोक्त सभी सन्धिकार्य होते रहते हैं, यह निरुक्तकारों का सिद्धान्त है।

जैसे—राजसु, वित्सु, रामेषु, हरिषु, हवींषि आदि उदाहरणों में सकार के [illegible] का अंग होने पर भी पूर्ववर्ती अकार, इकारादि स्वरों के बल का आक्रमण होने [illegible] स्थानापकर्षण के कारण मूर्धन्य षत्व इकारादि से परे हो जाता है। अतः 'रामाणाम्' 'वर्णाणाम्' में रेफ व ष के कारण न को ण हो जाता है। वाक्, [illegible] निर्णिक्तम् इत्यादि में कुत्व तथा 'सच्चरितम्' इत्यादि में चुत्व हो जाता है। इस प्रकार स्थान व प्रयत्न के क्रान्तिबल के तारतम्य से विभिन्न सन्धिकार्य होते हैं।

इस प्रकार अक्षरस्वरूप की तथा अक्षर में स्वर और व्यंजन के अङ्गाङ्गिभाव की व्याख्या की। वहाँ स्वर के अङ्गभूत इन व्यंजनों में उपसर्ग (पूर्वव्यंजन) के होने या न होने पर उपधान (उत्तर व्यंजन) बल के कार्योपधायक न होने से अक्षर लघु ही होता है। जैसे—अ, य, न्य, क्न्य आदि में। यहाँ अधोव्यापार अर्थात् स्वर से पूर्व व्यंजनव्यापार के होने पर भी ऊर्ध्वव्यापार (स्वर के पश्चात् व्यंजनव्यापार) के न होने से अक्षर लघु ही रहता है। उपधान में आक्रमण व्यापार के फलोपधायक होने से अक्षर गुरु हो जाता है। दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ इत्यादि) सन्ध्यक्षर स्वरों (ए, ऐ, ओ, औ) अनुस्वारान्त स्वर (अं) विसर्गान्त स्वर (अः) व्यंजनान्त स्वर, अत् आदि तथा दो व्यंजनों के संयोग से पूर्ववर्त्ती स्वरों (अर्क-अक्त आदि) के उपहित (पश्चाद्वर्ती) वर्ण से युक्त होने के कारण आगे अर्कव्यापार होने से अक्षर में गुरुत्व उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार लघुगुरुभेद से अक्षर का द्वैविध्य है।

इतिश्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्वस्ति ग्रन्थ में अक्षरपरिष्कारनामक चतुर्थ प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

सन्धि-परिष्कार पञ्चम प्रपाठ

अक्षर का दूसरे अक्षर के साथ सम्बन्ध होने पर परस्पर बन्धन से हृदय-ग्रन्थि की उत्पत्ति होकर क्षर की उत्पत्ति होती है। परब्रह्म विद्या में जिस प्रकार भूत[1] क्षर कहलाते हैं उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में व्यञ्जन क्षर कहलाते हैं। इन्द्रियग्राह्य क्षर व्यञ्जन वर्णों से इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य प्राण की अभिव्यक्ति होती है। अतः 'व्यज्यते प्राणः अनेन' इस व्युत्पत्ति से व्यंजन वर्ण व्यंजन कहलाते हैं।

निरूपकभेद से सन्धिद्वैविध्य

जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में अक्षरों तथा क्षरों का सन्धियोग (मेल) निरूपक के भेद से दो प्रकार का है, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में भी अक्षरों व व्यंजनों का सन्धियोग निरूपकभेद से दो प्रकार का है। वे दो प्रकार विभूति तथा योग हैं। इनमें योगसंश्लेष तथा संपरिष्वङ्ग भेद से दो प्रकार का है।

विभूति

जहाँ युक्त (सम्बद्ध) वस्तुओं में एक वस्तु सम्बन्ध के लिए व्यापारशील हो, बद्ध तथा परतंत्र हो, तथा दूसरी व्यापाररहित अबद्ध तथा स्वतंत्र हो, वहाँ व्यापक का व्याप्य में अनुग्रह विभूति कहलाता है। [2]जल की लवण, में आकाश को वायु में. दर्पण की मुख में तथा अव्यय ब्रह्म की भूतसमूह में व्याप्ति विभूति सम्बंध है। यहाँ जलादि व्यापक हैं तथा लवणादि व्याप्य हैं।

जिस प्रकार लोक में क्षररूप भूतों में अक्षर रूप प्राण की व्याप्ति होती है। उसी प्रकार अक्षररूप स्वर की क्षर रूप व्यंजनों में व्याप्ति होती है। जैसे—'स्त्यर्क्ट्' शब्द में अकार रूप अक्षर (स्वर) की स् त् र् य् इन चार पूर्ववर्ती तथा र् क्, ट् इन तीन उत्तरवर्ती व्यंजनरूप क्षरों में व्याप्ति है। क्षरों में भी एक क्षर की दूसरे क्षर में व्याप्ति विभूति सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'रामाणाम्', 'वर्मणाम्' इन उदाहरणों में मूर्धन्य र् और ष् वर्णों के प्रयत्न की महिमा से दन्त्य नकार मूर्धन्य 'ण' बन जाता है। अतः यहां मूर्धन्य वर्णों की व्याप्ति दन्त्य नकार वर्ण में है।

---

१. क्षरः सर्वाणि भूतानि। गीता० अ० १५।

२. अम्भो लवणे, वायौ व्योम, मुखे दर्पणं यद्वत्।
   विभवति तद्वत् विरजा भूतग्रामेऽव्ययः परमः॥

संश्लेष

उपर्युक्त उदाहरणों में ही व्याप्य का व्यापक में सम्बंध संश्लेष कहलाता है। इस सम्बन्ध को एकतः (इकतरफा) बन्धयोग कहते हैं। जैसे—[1]लवण का जल में, वायु का आकाश में, मुख का दर्पण में तथा विरजा अव्यय ब्रह्म का भूतसमूह में सम्बन्ध तथा व्याप्य लवणादि का व्यापक जलादि में सम्बन्ध संश्लेष कहलाता है।

इसी प्रकार व्यंजन अवद्ध स्वतंत्र स्वर में संश्लिष्ट अर्थात् बद्ध हैं। व्याप्य व्यंजनों का व्यापक स्वर में जो सम्बन्ध है वही संश्लेष है। क्षरो में भी एक का दूसरे के साथ संश्लेष होता है। वहाँ संश्लेषण द्रव्य के सम्बंध से एक का दूसरे के साथ सम्बन्धमात्र होता है एक का दूसरे में अनुप्रवेश नहीं। इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में कहा है :—

अर्थात् "अव्यक्त स्वरूप वाले मैंने सारे जगत् को व्याप्त कर रखा है। सारे भूत मेरे में स्थित हैं किन्तु मैं भूतों में स्थित नहीं हूँ।" ८ गीता ९ अ. ४। मेरे इस ईश्वरीय सम्बन्ध को देखो कि भूत मेरे में स्थित नहीं है। मैं भूतों को धारण करने वाला हूँ पर भूतों में स्थित नहीं हूँ। मैं भूतभावन हूँ। गीता ९।५।

जिस प्रकार सर्वत्र गतिशील महान् वायु आकाश में स्थित है उसी प्रकार सारे भूत मेरे में स्थित हैं, यह समझो।" गीता अ. ९।६।

इन गीतापद्यों में प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध में विभूति सम्बन्ध का निरूपण है।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इस तृतीय पाद में एकतो बन्धनात्मक संश्लेषरूप योगसम्बन्ध का निरूपण है। 'न चाहं तेष्वस्थितः' 'इस चतुर्थपाद में उस संश्लेष में दूसरे (अव्यय) का अबन्धन बतलाया गया है।' न च मत्स्थानि भूतानि' इसके द्वारा भूतों का ब्रह्म से संश्लेष होने पर भी वह परस्पर समन्वयरूप अनुप्रवेशात्मक नहीं है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

२. व्यंजनभेद से संश्लेषसाप्तविध्य

इस संश्लेष सम्बन्ध को व्यंजनभेद से सात प्रकार का याज्ञवल्क्य ने माना है:—[2]अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड, ऊर्णापिण्ड, ज्वालापिण्ड, मृत्पिण्ड, वायूपिण्ड

---

१. अम्भसि लवणं, वायुर्व्योम्नि, मुखं दर्पणे यद्वत्।
शिलष्यंति तद्वत् विरजसि भूतग्रामोऽव्यये परमे॥

२. अथ सप्तविधाः संयोगपिण्डाः—
यमान् विद्यादयस्पिण्डान् सान्तःस्यान् दारुपिण्डवत्।
अन्तःस्थसमस्तं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत्॥१॥

तथा वज्रपिण्ड । जब वर्णों (व्यंजनों) का संयोग यम वर्णों के साथ होता है, तब उस संयोग को अयःपिण्ड कहते हैं। अर्थात् यम वर्णों में इस प्रकार विच्छेद करना चाहिए जिससे जिस प्रकार परस्पर संश्लिष्ट अवयव वाले लोह-खण्डों का विच्छेद होता है ऐसा विच्छेद प्रतीत हो। जैसे 'अग्ग्निः' पत्क्क्ती इत्यादि में गकार के पूर्वाङ्ग होने से अकार के साथ उच्चारण होने से जब नकार से उसका विच्छेद होता है तब गकार तथा नकार का मध्यवर्ती नकारगुणक अनुनासिक द्वितीय गकार रूपी यम वर्ण भी साथ ही उच्छिन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में यमवर्ण का उत्पत्तिकालिक पूर्व गकार से पृथक् श्रवण नहीं होता।

अन्तःस्थ वर्ण य, र, ल, व के साथ व्यंजनों के संयोग को दारुपिण्ड कहते हैं अर्थात् अन्तःस्थसंयुक्त पिण्डों में इस प्रकार वर्णविच्छेद होता है जिस प्रकार काष्ठ के शिथिलरूप स संश्लिष्ट अवयवों का होता है। जैसे—सत्यम्, अश्वः, विल्मिने, इत्यादि में तकार यकारादि का विच्छेद। अन्तःस्थ तथा यम वर्णों को छोड़कर ऊष्मवर्णों के साथ व्यंजनों के संयोग को ऊर्णापिण्ड कहते हैं। अर्थात् उष्म वर्णों के साथ व्यंजनों का संयोग होने पर उनका इस प्रकार से विच्छेद करना चाहिए जिस प्रकार शिथिल अवयव वाले ऊर्णा (ऊन) के पिण्डावयवों का होता है। जैसे—अश्वः, अश्मन्, अस्मै इत्यादि में। अंतः-स्थवर्णों के साथ सयोग में पञ्चम तथा अपञ्चम वर्णों के मध्यवर्ती विच्छेद के अशरीर होने से कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। इसी प्रकार अन्तस्थ वर्णों के साथ संयोग में भी अन्तस्थवर्णों के लघुप्रयत्नतर होने से आत्यन्तिक सन्निकर्ष के कारण पिण्डनायक होने से किसी विशेषता की उपलब्धि नहीं होती।

नासिक्य पञ्चमवर्णों के साथ हकार के संयोगपिण्ड को ज्वालापिण्ड कहते हैं। जैसे वह्निः, ब्रह्म, गृह्णामि इत्यादि में। अनुस्वार तथा अनुनासिक-सहित संयोगपिण्डों को मृण्मय पिण्ड कहते हैं। जैसे—त्रिंशी, संस्तुप् इत्यादि में। सोपध्मान (उपध्मानयुक्त) संयोगपिण्डों को वायुपिण्ड कहते हैं।

अन्तःस्थयमसंयोगे विशेषो नोपलभ्यते ।
अशरीरं यमं विद्यादन्तःस्थं पिण्डनायकम् ॥२॥
ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृन्मयान् ।
सोपध्मान् वायुपिण्डांस्तु जिह्वामूले तु वज्रिणः ॥

जैसे—द्यौ꠳पिता इत्यादि में। यहाँ पवर्ग से पूर्व ऊष्म उपध्मानीय के उच्चारण में वायु की सी गम्भीर ध्वनि होती है, इस संयोग को वायुपिण्ड कहते हैं। जिह्वामूलसहित संयोगपिण्ड को वज्रपिण्ड कहते हैं क्योंकि कवर्ग से पूर्व ऊष्म वर्णों का उच्चारण करने पर ऊष्मवर्ण का खकार के समान उच्चारण होने से षकार की ककार के साथ वज्र की तरह अत्यन्त संश्लिष्ट प्रतीति होती है, अतः इसे वज्रपिण्ड संयोग कहते हैं।

सम्परिष्वङ्ग

संपरिष्वङ्ग सम्बन्ध परस्पर बन्धनरूप होता है। अक्षर का अक्षर से सम्बन्ध संपरिष्वङ्ग (सम्बन्ध) होता है जैसे शारीरक विज्ञानात्मा का प्राज्ञ आत्मा के सम्परिष्वङ्ग सम्बन्ध हैं क्योंकि दोनों ही आत्मा प्राणरूप होने से अक्षर हैं। इसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में एक स्वर (प्राण) का दूसरे स्वर से मेल (सन्धि) होता है। जैसे—'नदीयं, भानूदयः' इत्यादि में क्रमशः ई+इ तथा उ+उ इन दो-दो स्वरों का मेल है। दिव्यस्ति, दिक्ष्वस्ति, दात्रास्ति इन उदाहरणों में क्रमशः इ, उ, ऋ, इन स्वरों का परस्वर अकार से योग है। दिव्यस्ति इत्यादि में इकारादि का परस्वर से मेल होने पर तीन स्थितियों की संभावना की जाती है। दबाने से संकोच होता है और इस प्रकार एकमात्र स्वर की अर्धमात्रा शेष रह जाती है। अथवा अन्य स्वर के उदर में दूसरे स्वर के अंग का प्रवेश हो जाता है और इस नवबिन्दुपर्यन्त व्याप्ति वाले स्वर में पञ्चम व षष्ठ बिन्दु जो कि स्वर के स्वरूप हैं, उनमें इकार की षष्ठ बिन्दु में अकार की पञ्चम बिन्दु का समावेश हो जाने से एकमात्रिक इकार की अर्धमात्रा ही शेष रह जाती है। अथवा दोनों स्वरों के अत्यन्त समीप आकर मिलने पर स्वर का एक अंग इकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अकार में संयुक्त इकार स्वर की अर्धमात्रा कट जाती है। अर्धमात्रा का छेद हो जाना ही इकार की अङ्गक्षति है। इन तीनों ही स्थितियों में अर्थात् स्वर का संकोच मानने में, इकार स्वर की षष्ठ बिन्दु में अकार के पञ्चम बिन्दु का समावेश मानने में तथा अकार से संयुक्त होने पर इकार के अर्धमात्रारूप अंग की क्षति मानने में फलतः कोई अन्तर नहीं पड़ता है। तीनों ही स्थितियों में इकार स्वर की पूर्व अर्धमात्रा शेष रहती है और उत्तर अर्धमात्रा नष्ट हो जाती है। अतः वह स्वर अपने स्वरूप एक मात्रा से च्युत होने के कारण स्वर न रहकर अर्धमात्ररूप व्यंजन में परिणत हो जाता है। पर उसी स्थान के व्यंजन में उसका परिणाम

होता है जिस स्थान से उस स्वर का सम्बन्ध था। अर्थात् इकार का तालु-स्थान है। अतः उसकी अर्धमात्रा का विच्छेद होकर अर्धमात्रा शेष रह जाने पर जब वह व्यंजनरूप में परिणत होता है तो तालुस्थानीय यकाररूप व्यंजन में ही परिणत होता है अन्य वकारादि व्यंजनों में नहीं।

किन्तु उपर्युक्त तीनों प्रकारों में भगवान् पाणिनि को स्वर का संकोच ही अभिप्रेत है। इसीलिये वे 'इग् यणः सम्प्रसारणम्, इस सूत्र में यकार का इकाररूप में परिणाम होने पर उसकी संप्रसारणसंज्ञा बतलाते हैं। क्योंकि प्रसारण संकुचित का ही होता है। यदि दूसरे स्वर के उदर में दूसरे स्वर का अनुप्रवेश उन्हें अभीष्ट होता तो वे उस अनुप्रवेश के हटने पर अनप्रवेश-विरोधी उद्धरण शब्द का प्रयोग करते। तथा उन्हें अंगक्षत अभीष्ट होता तो क्षत की पुनः सम्पत्तिरूप अनुसम्पत्ति पद का वे प्रयोग करते। पर दोनों का ही प्रयोग न कर समंचनविरोधी सम्प्रसारण का प्रयोग करने से उन्हें इन तीनों प्रकारों में समंचनपक्ष ही अभिप्रेत है। श्रुति ने भी [1]सार्वायुपाग्निविद्या में अधिदैवत (परब्रह्मविद्या) में समञ्चन व प्रसारण का ही प्रतिपादन किया है। अर्थात् यह अग्नि पशु है। जब पशु अंगों को संकुचित करता है और उन्हें फैलाता है, तो उसमें इस क्रिया से सामर्थ्य उत्पन्न होती है। संकोचन व प्रसारण प्राण है। जिस अंग में प्राण की स्थिति है, उसी का संकोच व प्रसार होता है। उपर्युक्त रीति से परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म में भी वाक्प्राण के संकोच व प्रसार से ही व्यंजन व स्वर की सिद्धि होती है। अर्थात् व्यंजनों में प्रसार होने से वे अर्धमात्रा से बढ़कर एक मात्रा में आ जाते हैं, और स्वर बन जाते हैं। जैसे—यकार प्रसारित होकर 'इ' स्वर बन जाता है। इसी प्रकार स्वर संकोचन के द्वारा अर्थात् एक मात्रा से अर्धमात्रा में संकुचित होने पर व्यंजन बन जाते हैं। जैसे—दिव्यस्ति, इत्यादि में इकारस्वर संकुचित होकर यकार व्यंजन बन जाता है। यह समञ्चन (संकोच) दो स्वरों के सम्परिष्वङ्गरूप सम्बन्ध-विशेष से ही होता है।

---

१. 'अथातः समञ्चनप्रसारणस्यैव। पशुरेष यदग्निः। यदा वै पशुरङ्गानि संचाञ्चति प्र च सारयति। अथ स तैर्वीर्यं करोति। प्राणो वै. समञ्चनप्रसारणम्" यस्मिन् वा अङ्गे प्राणो भवति तत् सं चाञ्चति प्र च सारयति" इति। शत० ८।१।१४।

(८) सन्निकर्ष के भेद से सन्धिद्वैविध्य

वर्णों के संनिकर्षभेद से सन्धि के दो भेद हो जाते हैं। संनिकर्ष के दो भेद संक्रान्ति तथा संहिता हैं। पूर्वोक्त विभूति, संश्लेष एवं संपरिष्वङ्गरूप वर्णों के तीनों योग ही व्याकरणसिद्धान्त में सन्धिशब्द से व्यवहृत होते हैं। इनमें वर्णान्तर के विच्छेद से युक्त विभूतियोग ही संक्रान्ति-सम्बन्ध कहलाता है। तथा शेष संश्लेष व संपरिष्वङ्गयोग संहिता कहलाते हैं। जैसा कि कात्यायन ने प्रातिशाख्य में कहा है—'वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता'। अर्थात् वर्णों का एक प्राण से सम्बन्ध हो संहिता है। वह एक प्राण, स्वर का क्रान्तिमण्डल (व्याप्तिमण्डल) अनुष्टुप् छन्द है।' 'प्राणा वै देवा वयोनाधाश्छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः' इस शतपथश्रुति से यह स्पष्ट सिद्ध है कि प्राणविशेष जब अवच्छेदक बनता है तब छन्द कहलाता है। वर्णों का एक प्राण से सम्बन्ध वर्णान्तर के व्यवधान या वर्णान्तर के विच्छेद में भी बन जाता है। जैसे – 'स्त्र्यर्क्ट्' इस उदाहरण में आदि में स्, त् र् य् का अन्त में र् ट् क् का अकार-रूप एक प्राण (स्वर) से सम्बन्ध है। क्योंकि उन सब में एक अकार स्वर का ही सम्बन्ध है किन्तु उसे संहिता नहीं कह सकते क्योंकि उनका एक प्राण से सम्बन्ध वर्णान्तर के व्यवधान या विच्छेद से युक्त है वर्णान्तर के विच्छेद से रहित नहीं। इसी वर्णान्तर-विच्छेद-सहित एक-प्राणसम्बन्ध का निराकरण करने के लिए पाणिनि ने संहिता की परिभाषा में 'परः संनिकर्षः संहिता' सूत्र में 'संनिकर्ष' में पर-विशेषण का प्रयोग किया है। यहाँ पर-शब्द का अर्थ वर्णान्तर-विच्छेद-राहित्य है।

परसंनिकर्ष की व्याख्या करते हुए किसी ने जो यह कहा है कि 'एक वर्ण के बाद दूसरे वर्ण का उच्चारण करने में जो स्वभावतः अर्धमात्रा का काल लगता है उतने व्यवधान से भिन्न व्यवधान का न होना पर-संनिकर्ष है, यह उचित नहीं है क्योंकि दो पदों का योग होने पर 'सुऽवचाः' इत्यादि में अवग्रहादि-स्थल में एक पद के बाद दूसरे पद के उच्चारण में अर्धमात्राकाल के व्यवधान की प्रतीति होने पर भी दो वर्णों का सम्बन्ध होने पर दोनों वर्णों के बीच अर्धमात्रा से भी अल्पकालिक अवकाश की ही प्रतीति होती है अर्धमात्राकाल की नहीं। दो वर्णों के बीच का वही अर्धमात्रा से भी स्वल्पकालिक अवकाश संहिता कहलाता है। अर्थात् दो वर्णों में अन्यवर्णजनित विच्छेद का अभाव

संहिता है। अन्यवर्ण से व्यवहित दो वर्णों का संनिकर्ष संक्रान्ति कहलाता है। इस प्रकार संक्रान्ति तथा संहिताभेद से सन्धि दो प्रकार की होती है।

५. आश्रयभेद से सन्धिद्वैविध्य

आश्रयभेद से भी सन्धि के दो भेद हैं। वे दो भेद स्वरसन्धि व व्यंजन-सन्धि हैं। स्वरसन्धि संहिता (वर्णान्तर के व्यवधान से रहित दो वर्णों के संनिकर्ष) में ही होती है, वर्णान्तरव्यवधान वाले संक्रान्तिरूप संनिकर्ष में नहीं। एक स्वर की व्याप्ति नवबिन्द्वात्मक प्रदेश में मानी जाती है। एक विन्दु 'व्यंजन' अर्थात् अर्धमात्रा का प्रतीक है। उस नवबिन्द्वात्मक प्रदेश में पञ्चम व षष्ठबिन्दुरूप एकमात्रारूप प्रदेश स्वर का स्वरूप है। पञ्चम-बिन्दुरूप अर्धमात्रा-स्वर का पूर्वार्द्ध तथा षष्ठ बिन्दुरूप अर्धमात्रा स्वर का उत्तरार्द्ध कहलाता है। दोनों से स्वर का रूप निष्पन्न होता है। वहाँ दो स्वरों की संहिता होने पर पूर्व स्वर की षष्ठ बिन्दु अर्थात् उत्तरार्द्ध, परस्वर की पञ्चम बिन्दु अर्थात् पूर्वार्द्ध बन जाता है। जिसका दिग्दर्शन 'दिव्यस्ति' इस उदाहरण में पूर्व ही किया जा चुका है। वहाँ इकार-स्वर की षष्ठ बिन्दु अर्थात् इकार का उत्तरार्द्ध उत्तर स्वर अकार की पञ्चम बिन्दु अर्थात् पूर्वार्द्ध बन गया है और अपने उत्तरार्द्ध से वह इकार च्युत हो गया है। इसी से अर्धमात्रारूप शेष रहकर वह स्वर-सम्पत्ति से विहीन हो जाता है और तत्स्थानीय यकार में परिवर्तित हो जाता है। यह स्वरसन्धि है।

अन्य अक्षर से निगृहीत व्यंजन का दूसरे अक्षर से निगृहीत होना व्यंजन-सन्धि है। जैसे—'तत्+आगमन' में दूसरा तकार सन्धि से पूर्व पूर्वतकारोत्तरवर्ती अकार स्वर से गृहीत है किन्तु जश्त्वरूप व्यंजनसन्धि के बाद तत्स्थानीय 'द्' 'आगमनम्' पद के आदि स्वर आकार से गृहीत हो जाता है। उच्चारण से इसको स्पष्ट जाना जा सकता है। यही व्यंजनसन्धि है।

६. बलभेद से सन्धिद्वैविध्य

बलभेद से भी सन्धि दो प्रकार की है। स्वरसन्धि तथा व्यंजनसंधि के द्वारा वर्ण के गुणों का अतिरेक होता है। अन्यरूप से विद्यमान का अन्यरूप हो जाना अतिरेक कहलाता है। वर्णों के उपादानकारण वायु में वर्ण के स्वरूप तथा तद्विशेष के उत्पत्त्यनुकूल बल को वर्णगुण कहते हैं। बल आरम्भक तथा विशेषक भेद से दो प्रकार का है। वर्णस्वरूप की उत्पत्ति

में काम आने वाला बल आरम्भक कहलाता है। वह (१) स्वरोपधायक (२) अङ्गोपधायक (३) स्पर्शोपधायक (४) स्थानोपधायक तथा (५) नादोपधायक भेद से पाँच प्रकार का है। स्वरोपधायक बल के कारण एक ही अकार अ-अ,-अ इस प्रकार से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से तीन प्रकार का बन जाता है। अङ्गोपधायक बल के कारण अकारादि एक-एक अक्षर में अ-आ आ ३ इस प्रकार से ह्रस्व दीर्घ व प्लुत भेद बन जाते हैं। उच्चारणकृत ह्रस्वदीर्घादि भेद अकारादि अक्षरों में ही है, ककारादि व्यंजनों में नहीं, क्योंकि व्यजनों का उच्चारण अकारादि स्वरों के अधीन है अतः वे स्वर के अंग हैं, स्वतन्त्र नहीं। और व्यंजन-सहित स्वर एक ही अक्षर कहलाता है भिन्न नहीं। स्पर्शोपधायक बल के भेद से अ, ऽ, अ, ग, क, ह इत्यादि वर्णधारायें बनती हैं। जैसे— 'अ' अस्पृष्ट है। 'ऽ' ईषत्स्पृष्ट है। 'अः' दुःस्पृष्ट है। 'ग' मृदुस्पृष्ट है। 'क' तीव्रस्पृष्ट है। 'ह' अर्द्धस्पृष्ट है। अतः ये सब भेद स्पर्शोपधायक बल के भेद से होते हैं। स्थानोपधायक बल के भेद से एक ही वर्णोपादानभूत वायु अ, इ, ऋ, लृ, उ, इन वर्णधाराओं का स्वरूप धारण कर लेती है। 'अ' कण्ठ्य है। 'इ' तालव्य है। 'ऋ' मूर्धन्य है। 'लृ' दन्त्य है। तथा 'उ' ओष्ठ्य है। नादोपधायक बल के भेद से उपांशुवाक्रूप मध्यमा वाक् वैखरी वाक् में परिणत हो जाती है।

७. विशेषक बल का पाञ्चविध्य

उपर्युक्त पांचों बलों में विनियुक्त बल विशेषक कहलाता है। वह भी (१) उपजनक (२) उपघातक (३) विक्षेपक (४) विशेषाधायक (५) निरोधक भेद से पांच प्रकार का है। प्रयत्नोपजनक बल से वर्णागम होता है। प्रयत्नोपघातक बल से वर्णलोप होता है। प्रयत्नविक्षेपक बल से वर्ण-विपर्यय होता है। विशेषाधायक बल से वर्णादेश होना है। इन चारों बलों के निरोधक बल से प्रगृह्यता आती है। विकार के प्रतिबन्ध से स्वरूप में स्थितिरूप प्रकृतिभाव ही प्रगृह्यता है। इस प्रकार आरम्भक बल में विशेषक बल के तारतम्य के कारण दूसरे वर्ण के विच्छेद से सहित या रहित बलवान् व्यंजन के गुणों से बाधित निर्बल व्यंजन के गुण हट जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। और उन निवृत्त गुणों का स्थान आक्रामक बलवान् व्यंजन के गुण ले लेते हैं। इसलिए ये पाँच प्रकार के उपर्युक्त वर्णागमादि अनेक सन्धिफल उत्पन्न होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

वर्णागमो[1] वर्णविपर्ययस्तल्लोपस्तदादेश[2][3][4] इमे विकाराः।
स्थितिः[5] प्रकृत्येति च पञ्च सन्धेः फलानि वर्णद्वयसंनिकर्षे॥

१. वर्णागम

संयोग-विभाग तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति भगवान् कणाद ने बतलाई है। स्वर के उत्तर (बाद) नासिक्यभिन्न, पद के अन्त में वर्तमान स्पर्श वर्ण अवसान में तथा व्यंजन से पूर्व अपदान्त स्पर्श वर्ण पूर्व स्वर से आक्रान्त होते हैं। वहाँ बलवान् संयोग से उत्पन्न वर्ण के समान प्रतिध्वनिरूप एक विभागज वर्ण और उत्पन्न होता है वह क्रमज नामक उपजन (आगम) है। उस विभागज वर्ण का यति द्वारा विच्छिन्न होकर उच्चारण का कारण पूर्वस्वर से निग्रहण ही क्रमण है। अर्थात् उस विभागज वर्ण का यति द्वारा विच्छेद होने पर ही वह पूर्व स्वर से निगृहीत होकर उच्चारित होता है। क्योंकि बिना स्वर के व्यंजन का उच्चारण संभव नहीं। जैसे—'रामात् त्' इस उदाहरण में आकार के उत्तर अव्यवहित तकार वर्ण की उत्पत्ति स्थान और प्रयत्न के संयोग से होती है, किन्तु वेग के साथ स्थान और प्रयत्न का विभाग होते समय भी संयोगज वर्ण के समान ही उसकी प्रतिध्वनि के सदृश एक तकार वर्ण की और उत्पत्ति होती है, वही वर्ण स्थान और प्रयत्न के विभाग से उत्पन्न होने के कारण विभागज वर्ण है। परन्तु उसके उच्चारण में भी संयोगज वर्ण के समान पूर्व स्वर ही कारण है। यही स्थिति वत्त्सः, आत्त्मा, सत्त्यम्, शक्क्रः, आतनच्च्मि, सज्ज्मा, इन उदाहरणों में है। इतना भेद अवश्य है कि 'रामात्त्' अवसान में विद्यमान पदान्त स्पर्श का उदाहरण है और 'वत्त्सः' आदि व्यंजन से पूर्व विद्यमान अपदान्त स्पर्श के उदाहरण हैं। यह वर्ण पराङ्ग होता है।

हकार व्यंजन के परे होने पर यह क्रमज विभागज वर्ण सोष्मवर्ण बन जाता है क्योंकि यह वर्ण पराङ्ग होता है और ऐसे स्थलों में पर-व्यंजन उष्म हकार होता है अतः उसके सम्बन्ध से यह विभागज वर्ण भी सोष्म हो जाता है। जैसे—'वाग् हस्ती' इस उदाहरण में गकार के समान जिस नवीन विभागज वर्ण की उत्पत्ति होती है, वह पराङ्ग है। अतः उसका हकार से योग होने के कारण 'ग्' 'घ्' बन जाता है और 'वाग् हस्ती' 'वाग्घस्ती' में परिवर्तित हो जाता है।

ह्रस्व स्वर से परे विद्यमान ङ, ण, न में भी स्वर परे होने पर विभागज ङ, ण, न वर्णों की उत्पत्ति होती है। वे भी पराङ्ग होते हैं। प्रत्यङ्ङात्मा, सुगण्णीशः, सन्नच्युतः इसके उदाहरण हैं।

जैसे स्वर के परे होने पर ङ, ण, न में तत्समान विभागज उपजन (वर्णागम) होता है उसी प्रकार स्वरभक्ति के परे होने पर भी होता है। अर्शः, अर्हः, श्च्योतते, स्त्यानम्, आदि में शकारादि उष्म-वर्णों के उच्चारण से पूर्व अकार इकार आदि रूप स्वरभक्ति की प्रतीति होती है। इस स्वरभक्ति के परे होने पर भी ङ, ण न इन नासिक्य वर्णों के पश्चात् तत्समान विभागज ङ, ण, न का उपजन होता है। जैसे—'प्राङ्क् षष्ठः, सुगण्ट् षष्ठः 'सन्त्सः' सञ्च्छम्भुः, इन उदाहरणों में स्वरभक्ति के कारण' षकारादि से पूर्व ङ, ण, न का आगम है। किन्तु वह उपजन (आगम) उन वर्णों से परे षकारादि से पूर्व विद्यमान अकारादि स्वरभक्ति के कारण है। यहां क्रमशः ङ, ण, न, ये विभागज उपजन परवर्ण के अङ्ग है। और परवर्ण षकारादि निरनुनासिक वर्ण हैं, अत. उन उपजनों में से भी नासिक्यतापादक यत्न की निवृत्ति हो जाती है अतः वे ङ ण, न क्रमशः तत्स्थानीय नासिक्यरहित क, ट, त में परिवर्तित हो जाते हैं। क्योंकि उन उपजनों के संनिकृष्ट उष्म वर्ण नासिक्यविरोधी गुण से युक्त हैं।

षट्त् सुखिनः, षट्त्सन्तः, इत्यादि में हकार के बाद होने वाले विभागज उपजन 'ट्' के पराङ्ग होने से और उत्तरवर्ती सकार में दन्तस्थानत्व गुण की प्रबलता के कारण वह दन्त्य 'त' में परिवर्तित हो जाता है। स्वर से परे विद्यमान रेफ व हकार से परे जो ह, श, ष, स, य, र, ल, व, से भिन्न वर्ण हैं उन पर पूर्वस्वर का क्रमण होता भी है और नहीं भी होता, अतः वहाँ क्रमज, विभागज व्यंजन विकल्प से उत्पन्न होता है। जैसे-तर्क्कः, स्वर्ग्गः, गर्ज्जः, ब्रह्म, नह्यस्ति आदि में। किन्तु जहाँ रेफ व हकार से परे उष्म या अन्तस्थ व्यंजन होते हैं वहाँ क्रमज या विभागज व्यंजन उत्पन्न नहीं होता। जैसे— स्वर्ग्यम् आदि उदाहरणों में।

छकारभिन्न सोष्म स्पर्शवर्णों में पराङ्गता प्रबल होती है, अतः वहाँ पूर्व स्वर का क्रमण नहीं होता और वहाँ तत्समान विभागज व्यंजन उत्पन्न नहीं होता। जैसे—मखः, मघा, शठः, वधः, सभा आदि उदाहरणों में। किन्तु छकार वर्ण में पराङ्गता का स्पर्श होने पर स्वभावतः उस में पूर्व स्वर का भी क्रमण होता है अतः क्रमज चकार उत्पन्न होता है और वह उष्मवर्ण छकार से युक्त होता है। जैसे—स्वच्छाया, शिवच्छाया, चेच्छिद्यते आदि में। किन्तु पद के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उससे परे छकार व्यंजन हो तो वहाँ पदान्त यति के

द्वारा पूर्व स्वर तथा छकार का विच्छेद हो जाने से पूर्व स्वर का क्रमण छकार में नहीं भी होता और कदाचित् होता भी है अतः वहाँ क्रमज चकार वर्ण की उत्पत्ति विकल्प से होती है। जैसे-साच्छाया, सा छाया में, माच्छिदत्, आच्छादयति इत्यादि में पदांत यति से विच्छेद हो जाने पर भी जो क्रमज चकार व्यंजन दृष्टिगोचर होता है उसका कारण यहाँ एकपदत्व की विवक्षा ही है। अतः पदान्त यति से विच्छेद नहीं होता है और पूर्वस्वर के क्रमण से क्रमज चकार व्यंजन उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि यह वर्णोपजन (वर्णागम) का वैचित्र्य दो व्यंजनों की सन्धि होने पर व्यंजनों की गुणप्रकृति पर निर्भर हैं तथापि यह वर्णगुणप्रकृत्यनुकूल उच्चारण करने वाले सम्प्रदायविशेष से ही बनता है। आच्छादयति इत्यादि में दीर्घ स्वर से परे छकार से पूर्व चकार का उपजन साम्प्रदायिक उच्चारण की प्रकृति-विशेष के कारण ही है। यह क्रमज उपजन विवक्षा के अधीन होता है, ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) नहीं। क्योंकि पूर्वस्वर का क्रमण उच्चारणविशेष के अधीन होने से साम्प्रदायिक है। अर्थात् वह उच्चारयिता सम्प्रदायविशेष पर आश्रित है। इसलिए दीर्घ स्वर से परे द्वित्व नहीं होता, ऐसा आचार्य उपवर्ष मानते हैं। इन्द्रः, राष्ट्रम्, इत्यादि में दो से अधिक व्यंजनों के योग में द्वित्व नहीं होता ऐसा शाकटायन मानते हैं। कहीं भी द्वित्व नहीं होता, ऐसा शाकल्य मानते हैं। उपर्युक्त उपजन (वर्णागम) सम्प्रदायविशेषाधीन होते हुए भी वर्णप्रकृति की अपेक्षा से होते हैं। इसीलिए इनका यहाँ कथन किया गया है।

कुछ वर्णागम वर्णप्रकृति से निरपेक्ष होते हैं और केवल भाषा–व्यवहर्ता की प्रकृति की अपेक्षा से ही होते हैं। जैसे—[1]विश्ववाड्, मुड्, धुक् इत्यादि में हकार से पूर्व ड् व ग् का आगम। गर्भ, उद्ग्राभ, निग्राभ, संजभार आदि में हकार से पूर्व ब् का आगम होता है और ह के योग से ब् सोष्म बनकर भ हो जाता है। स्वैरः, स्वैरी, सुखार्तः प्रार्णम्, प्रार्च्छति आदि में क्रमशः ईर, ईरिन्, ऋत, ऋण, ऋच्छति से पूर्व अकार का आगम होता है।

२. वर्णलोप

लोप (वर्णलोप) – उपघातक बल के कारण कहीं वर्णों का लोप हो जाता है। जैसे—'प्रयुगम्' इस शब्द में उच्चारण के दोष से 'य्' वर्ण का लोप हो जाता

१. विश्ववाड् मुड्-धुगित्यादौ हकारात् प्राग् डगागमः।
गर्भ उद्ग्राभनिग्राभौ संजभारेति बागमः॥

है और 'प्रउगम्' ऐसा उच्चारण किया जाता है। 'उद् स्निग्' में उच्चारण-दोष से उद् के द् का लोप हो जाता है और उ से परे दन्त्य स को मूर्धन्य ष होकर उसके प्रभाव से दन्त्य 'न' मूर्धन्य 'ण' में परिणत हो जाता है और उष्णिक् ऐसा उच्चारण किया जाता है। उद् उपसर्गपूर्वक स्था तथा स्तम्भ् धातु में प्रयत्न के उपघात से स का लोप हो जाता है। जैसे—उत्थानम् व उत्तम्भनम् में। अवसान में संयोग के अन्तिम वर्ण का प्रयत्नोपघात से लोप हो जाता है। इसी प्रकार अथ शब्द में थकार के उत्तरवर्ती अकार का स्थानविपर्यय होकर वह पद के आदि में आ जाता है और दोनों के योग से आ बन जाता है। पश्चात् अन्त में स्वर के न रहने से त् + ह् इन संयुक्त व्यंजनों में संयोग के अन्तिम व्यंजन 'ह्' का लोप हो जाता है और आत् बन जाता है। जैसा कि 'आद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै' में है। यह आत् जब स्वतंत्र निपात होता है तब इसके स्थान में इसके पर्यायवाची अथ शब्द का प्रयोग हो सकता है। जैसे—'आद्रात्री' में आत् के स्थान में अथ शब्द का प्रयोग। किन्तु जब यह 'आत्' पञ्चमी विभक्ति के निपात-रूप से विवक्षित होता है तब इसके स्थान में पर्यायवाची अथ शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। जैसे - देवात् के स्थान में 'देवअथ' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता। जब यह आत् 'स्म' निपात से संयुक्त होता है तब सर्वनाम यत्, तत् आदि शब्दों के अन्तिम तकार का प्रयत्नक्लेश के कारण लोप हो जाता है। जैसे—यस्मात्, आदि में। व्यंजन से परे वर्तमान नासिक्य अन्तःस्थ व्यंजनों का नासिक्य अन्तःस्थ व्यंजन परे होने पर लोप हो जाता है।

व्यंजन से परे विद्यमान नासिक्य वर्णों का नासिक्य वर्ण परे होने पर जो लोप होता है, वह जिस नासिक्य वर्ण का लोप होता है, वह तत्सजातीय नासिक्य वर्ण के परे होने पर ही होता है, भिन्न नासिक्य वर्ण परे होने पर नहीं। इस लिए 'तन्म्नाम्' इस उदाहरण में 'न्' से परे 'म्' का लोप नहीं होता है, क्योंकि उससे परे जो नासिक्य वर्ण है, वह 'म्' न होकर तद् विजातीय 'न्' है।

'शय्या' इत्यादि में प्राकृतिक दो यकार-वर्णों में एक यकार का क्रमज अर्थात् विभागज तृतीय यकार के परे होने पर लोप हो जाता है। और अन्ततोगत्वा दो यकार ही शेष रह जाते हैं—एक प्राकृतिक और एक क्रमज। अदितेरपत्यम् आदित्यः, में एक यकार का क्रमज (विभागज) यकार परे होने पर लोप हो जाता है।

आदित्यदेवताक: स्थालीपाक आदित्य: शब्द में दो यकार हैं। एक मूल आदित्यशब्द का तथा दूसरा ण्य प्रत्यय का। इन दोनों का ही क्रमज तृतीय यकार परे होने पर लोप हो जाता है।

व्यंजन से परे वर्तमान नासिक्य अन्तःस्थ वर्णों से भिन्न व्यंजनों का सवर्ण व्यंजन परे होने पर लोप हो जाता है। जैसे—मरुतः, प्रत्तम्, अवत्तम्, इत्यादि में दो तकारों में से एक तकार का क्रमज तकार परे होने पर लोप हो रहा है। व्यंजन से परे वर्तमान नासिक्य तथा अन्तःस्थ वर्णों से भिन्न व्यञ्जनों का सवर्ण व्यञ्जन परे होने पर जो लोप होता है, वहाँ जिस व्यञ्जन का लोप होता है, वही व्यञ्जन परे हो, यह नियम नहीं। अतः 'शिण्ढि' व पिण्ढि, में ढकार परे होने पर भी डकार का लोप हो जाता है। ग्रन्थु शब्द में ग्रन्थ् धातु से 'तु' प्रत्यय करने पर तकार का लोप हो जाता है।

इ या ए अथवा उ या ओ के परे होने पर क्रमशः यकार व वकार की अभिव्यक्ति नहीं होती। जैसे–नरयीश्वरः नर ईश्वरः, योन्यायीश्वरः, योन्या ईश्वरः, भोयेकः, भो एकः, हरयेकः, हर एकः, त्वोतासः, तोतासः उदाहरणों में यकार व वकार की अभिव्यक्ति न होने से यकार-वकार-सहित तथा यकार-वकाररहित शब्दों का समान ही उच्चारण होता है। यकार व वकार की अभिव्यक्तिस्थल में तीन भिन्नभिन्न सम्प्रदाय हैं। इनमें शाकटायन भोयेको हरयेकः में यकार का स्वरधर्मिरूप से श्रवण मानते हैं। शाकल्य भो एकः, हर एकः, इस प्रकार से दोनों जगह यकार का श्रवण नहीं मानते। गार्ग्य 'भो एकः' में यकार का लोप (अश्रवण) तथा 'हरयेकः' में लघुप्रयत्नतर यकार का श्रवण मानते हैं। त्र्यृच शब्द में लोक में 'र' तथा 'य' की अनभिव्यक्ति है और छन्द में उनका लोप हो जाता है। जैसे–तृचम् में। 'त्र्यृपिः' में र और य की अनभिव्यक्ति है।

३ वर्णविपर्यय

विपर्यय (वर्णविपर्यय) वर्णों का स्थान-परिवर्तन है। अक्षवाहिनी प्रवाह, प्रवाढ तथा प्रवाढि शब्दों में अक्षरों के विशकलन से सिद्ध उ अ अ इन वर्णों का स्थानपरिवर्तन होकर सन्धि होने पर अक्षौहिणी, प्रौह, प्रौढ, प्रौढि प्रयोग बन जाते हैं। अर्थात् वाहिनी आदि शब्दों में वा शब्द के विशकलन से सिद्ध उ अ अ इन वर्णों का स्थानपरिवर्तन हो जाने पर अ अ स्वर उ से पूर्व स्थान में आ

जाते हैं तथा इनकी गुणसन्धि होकर ओ बन जाता है। ओ का अक्ष के साथ तथा प्र के अ के साथ सन्धि होने पर अक्षौहिणी प्रौढ आदि शब्द बन जाते हैं।

स्थिर शब्द में सकार से पूर्व स्वरभक्ति अकार स्थानविपर्यय के द्वारा सकार के बाद आ जाती है तथा सथिर शब्द बन जाता है। पश्चात् आदि के सकार तथा तत्पश्चाद्वर्ती स्वरभक्ति अकार, दोनों के तालव्य हो जाने से शिथिर शब्द बन जाता है। अथवा श्रथ व श्लथ शब्दों में र और थ तथा ल और थ का स्थानविपर्यय हो जाने से श्थर व श्थल शब्द बन जाते हैं। पश्चात् प्रयत्नदोष से 'श' 'व' 'थ' में दो इकार और आ जाते हैं। इस प्रकार शिथिर व शिथिल शब्द बन जाते है। 'पश्यक' शब्द में प और क का परस्पर स्थानविपर्यय हो जाने से कश्यप बन जाता है। तथा श और य का स्थानविपर्यय हो जाने पर यकार में प्रयत्न के प्रतिवाध से स्पर्श का उत्कर्ष होकर क्रमशः वह ज और च में परिवर्तित हो जाता हैं। और इसी प्रकार प्रयत्न-प्रतिबाध से स्पर्श का उत्कर्ष होकर 'श' 'छ' में परिवर्तित हो जाता है। कच्छप शब्द भी ऐसे ही बनता है। इसी प्रकार कश्य से कच्छ बन जाता है। इसी रीति से एव पद में पद के आदि में 'ए' का पदान्तविपर्यय हो जाने से 'वै' शब्द बन जाता है। 'अनश्वः' में अन् शब्द भी न के विपर्यय से बनता है। अर्थात् न=न्+अ में न जो आदि में था, अन्त में आ जाता है और इस प्रकार न का अन् बन जाता है। इसी प्रकार तु का स्थानविपर्यय से 'उत्' बन जाता है। 'कृती छेदने' से उ प्रत्यय द्वारा कर्तु शब्द ही स्थानविपर्यय से तर्कु बन जाता है।

[1]ओम् में अ उ का परस्पर स्थानविपर्यय हो जाने से ओम् का 'बम्' बन जाता है। भर्म शब्द में ह और र का स्थानविपर्यय हो जाने पर ब्रह्म बन जाता है। जैसे- भर्म='ब् ह्, अ, र् म् अ' में ब के स्थान में र और र के स्थान में ह के आ जाने से ब् र् ह् अ म् अ=ब्रह्म बन जाता है। बहु शब्द में अ का स्थानविपर्यय हो कर ह् के बाद आ जाने से तथा अ को उ हो जाने से भू बन जाता है। जैसे-बहु=

---

१ ओमोऽकारोकारयोर्वं परस्परविपर्य्ययात्।
भर्म्मणो हरयोर्ब्रह्म परस्परविपर्य्ययात्॥
बहोर उत्वमेत् सोऽभूद्धात्परो भूरभूदयम्।
धातुस्ततोऽभूद् भूर्भूमिर्भूमा भूयान् बहुं भुवन्॥
निर्ग्रन्थुशब्दे रहयोर्निघण्टुः स्याद् विपर्य्ययात्।
विक्षेपात् तरयोरेकबिन्दुत्वे स्पर्शनव्रुतेः॥

ब् अ ह् उ में अ के ह् के पश्चात् आने से ब् ह=भ बन जाता है और अ को उ हो जाने से सन्धि होकर दीर्घ ऊ हो जाता है और भू बन जाता है। भूमि, भूमा, भूयान् आदि में यही स्थिति है। निर्ग्रन्थु शब्द भी र तथा ह के विपर्यास से निघण्टु बन जाता है। जैसे-निर्ग्रन्थु=नि र् ग् र् अ न् त् ह् उ में 'ह' और 'र' का परस्पर स्थानविपर्यय हो जाने से निर्घन्तु बन जाता है। पश्चात् निर् के र् का भी विक्षेप के कारण स्थानविपर्यय हो जाता है और त् के बिन्दु पर आ जाता है और स्पर्शनद्रुति से त् ट में परिवर्तित हो जाता है।

४. वर्णादेश

[1]आरम्भक बल में जहाँ विशेषक बल के उदय से लोप, आगम तथा विपर्यास एक साथ होते हैं अर्थात् किसी वर्ण के गुण का नाश, किसी का आगम, किसी का विपर्यास (स्थानपरिवर्तन) होता है, उसे आदेश कहते हैं।

विशेषक बल नाना प्रकार का हो जाता है। प्रत्येक विशेषक-बल तारतम्य के कारण पुनः नाना प्रकार का हो जाता है। जैसे–गति एक विशेषक बल है। उसमें द्रुति, सम व प्लुति तीन विशेषतायें हैं। उरस्, कण्ठ व शिरस् ये तीन सवनस्थान हैं। इन स्थानों में वायु को पहुँचाने वाला बल स्वरोपधायकसंज्ञक है। इसमें विशेषक बल के तारतम्य से और भेद हो जाते हैं। जैसे- उदात्त और स्वरित द्रुत गति के कारण अनुदात्त हो जाते हैं। अनुदात्त व उदात्त समगति के कारण स्वरित बन जाते हैं। इसी प्रकार अनुदात्त और स्वरित प्लुतगति के कारण उदात्त हो जाते हैं।

इसी तरह संधारण एक दूसरा बल है। उसके कारण प्रतिसवन अर्थात् उरः, कण्ठ व शिरस् इन तीनों सवन स्थानों में स्वरोपधायक बल में दो भेद हो जाते हैं। वे भेद निगृहीत तथा उद्गृहीत हैं। प्रत्येक सवनस्थान में निम्न भाग में गृहीत वायु निगृहीत तथा ऊर्ध्वभाग में गृहीत उद्गृहीत कहलाता है। इसके कारण सन्नतर, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित, उदात्त तथा उदात्ततर ये ६ भेद स्वर के हो जाते हैं। उरस् स्थान में निम्न भाग में निष्पन्न स्वर सन्नतर (निघात)

---

१ आरम्भके बले यत्र विशेषकबलोदयात्।
लोपागमविपर्य्यासा बलानां स्युः समुच्चयात् ॥
गुणानां कस्यचिन्नाशः कस्यचिच्चागमः सह।
कस्यचिद्वा विपर्य्यासस्तमादेशं प्रचक्षते ॥

तथा ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न स्वर अनुदात्त कहलाता है। कण्ठस्थान में निम्न भाग में निष्पन्न स्वर स्वरित तथा ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न प्रचित कहलाता है। शिरःस्थान में निम्नभाग में निष्पन्न स्वर उदात्त तथा ऊर्ध्व भाग में निष्पन्न उदात्ततर कहलाता है। उपर्युक्त तारतम्यविशेष की अपेक्षा न करने पर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित ये तीन ही स्वर होते हैं। इसीलिए कहा है—"उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचान्नीचतरं तथा।"

इसी प्रकार अङ्गोपधायक बल में अभिव्याप्ति नामक विशेषक बल होता है उक्त विशेषक बल में अवच्छेदतारतम्य या मात्रा नामक अन्य बल रहता है। इसके कारण अक्षर में ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत ये विशेषतायें हो जाती हैं। एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ तथा त्रिमात्रिक प्लुत कहलाता है। यह एक छन्द है। स्वरमात्र को अथवा एक या दो या तीन या चार या पाँच या छः या सात व्यंजनों से अवच्छिन्न स्वर को अक्षर कहते हैं। यह दूसरा छन्द है।

स्पर्शोपधायक बल में विवृत,[१] मन्द,[२] दुर्योग,[३] द्विस्थानिक,[४] मृदु,[५] तीव्र[६] अर्धसम[७] ये सात विशेष हैं। समसाम्मुख्य रूप से अवस्थित स्थानों व करणों के मध्य में अवगुण्ठित वर्णों के उपादानकारण प्राणवायु से स्थानों व करणों के स्पर्श का प्रतिबन्ध या अभाव विवृत कहलाता है ॥१॥

स्थानों व करणों में प्राणवायु का स्पर्श न होने पर भी स्पर्शोन्मुखप्रयत्नता मन्द कहलाता है ॥२॥ अत्यल्पमात्रा में स्थान व करण में प्राणवायु का स्पर्श दुर्योग कहलाता है। वह करणविषमता के कारण स्पर्शास्पर्शी है ॥३॥ मुख-स्थान में स्पृष्ट प्राणवायु का उपरि विद्यमान नासानाडी से स्पर्श द्विस्थानिक कहलाता है ॥४॥ मृदुस्पर्श से ग, ज, ड, द, ब, वर्ण उच्चरित होते हैं ॥५॥ तीव्रस्पर्श से क, च, ट, त, प वर्ण उत्पन्न होते हैं ॥६॥ उष्म वर्णों के स्वरभक्ति सहित होने से अंशतः वे विवृत रहते हैं और अंशतः उनमें स्पर्श होता है। इस प्रकार इन विशेषक बलों के सम्बन्ध से स्पर्श में तारतम्य होने से वर्णान्तर का आदेश हो जाता है। जैसे—इ, उ, ऋ, लृ ये नामी स्वर है। इन विवृत प्रयत्न वाले स्वरों के स्थान में असवर्ण स्वर होने पर क्रमशः य, र, ल, व, ये ईषत्स्पृष्ट अन्तःस्थ वर्ण हो जाते हैं। जैसे—दिव्यस्ति, मध्वस्ति, पित्रागमः, लाकृतिः।

स्थानोपधायक बल में द्रुति, मम, प्लुति ये विशेपक बल होते हैं। द्रुति-गति के कारण प्रथम स्थान में स्थानोपधायक बल का पात होता है। समगति के कारण तालु, मूर्धा, व दन्त इन मध्यमस्थानों में तथा प्लुतगति के कारण ओष्ठरूप उत्तम (अन्तिम) स्थान में स्थानोपधायक बल का पात होता है। मध्यम स्थान में भी समद्रुति से तालुस्थान में, सम साम्य से मूर्धा में तथा समप्लुति से दन्तस्थान में स्थानोपधायक बल का अवपात होता है। द्रुति के कारण 'त' को 'क' हो जाता है। जैसे—'शुष्कः' में। प्लुति के कारण 'त' को 'व' हो जाता है। जैसे—'पक्वः' में। समसाम्य के कारण 'त' को 'ट' हो जाता है। जैसे—'कृष्टः' में। एकस्थानिक 'त' को द्विस्थानिकत्व बल के कारण 'न' हो जाता है। जैसे—वृक्णः, हीनः आदि में। प्लुति तथा द्विस्था-निकत्व के कारण 'त' को 'म' हो जाता है। जैसे—'क्षामः' में। कहीं पर स्थानबल तथा स्पर्शबल दोनों की विशेपताओं के आधान से सिद्धि होती है। जैसे—सकार और रेफ को अघोष वर्ण परे होने पर तथा अवसान में विसर्ग हो जाता है। जैसे—'उच्चैः, 'पुनः पुनः' में।

अकार से परे विद्यमान 'स' 'ह' बनकर उकार में परिणत हो जाता है, यदि उससे परे अकार या अघोषवर्ण हों। जैसे–'देवोऽस्ति, देवो गतः' आदि में। आकार से परे सकार को हकार होकर निवृत्ति हो जाती है यदि उससे परे स्वर वर्ण या घोष हो। जैसे—'बाला आयान्ति, बाला गताः' आदि में। इकारादि स्वरों से परे स को रेफ हो जाता है यदि उससे परे कोई स्वर या घोष वर्ण हों। जैसे—हरिरयं, हरिर्गतः, भानुरयं, भानुर्गतः, उच्चैरयं, नीचैर्गतः आदि में। स्वर वर्णों से परे रेफ और सकार को अघोष वर्ण परे होने पर उस अघोष वर्ण के स्थानवाला उष्म वर्ण हो जाता है। जैसे—शिव◡करोति, हरिश्चिनोति, भानुष्टीकते, शनैस्तन्वते, उच्चै◡पठति आदि में। इस प्रकार के आदेशविकारों में वर्णगुण लुप्त हो जाते हैं, या उनका विपर्यय हो जाता है।

५. प्रकृतिभाव

जिसका स्वरूप ही प्रदर्शित करना अभीष्ट है वह प्रकृष्टतया गृहीत होने से प्रगृह्य कहलाता है। वहाँ विकार के कारण के होने पर भी प्रगृहीत होने से उस स्वर की स्वरूप से प्रच्युति नहीं होती अर्थात् उसमें कोई विकार नहीं होता। जैसे ईकारान्त, ऊकारान्त व एकारान्त द्विवचन, ईदर्थक व प्रदधिमर्थ वाले

आकार को छोड़कर शेष स्वर, तथा ओकारान्त निपात प्रगृह्य होते हैं। इनके क्रमशः-हरी एतौ, विष्णू इमौ, द्रव्ये इमे, अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, अहो ईशाः उदाहरण हैं। प्रकृतिभाव विवक्षाधीन होता है।

इति श्रीविद्यावाचस्पति-श्रीमधुसूदनशर्मप्रणीत पथ्यास्वस्तिग्रन्थ में सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम प्रपाठ की हिन्दीव्याख्या समाप्त।
